ओ३म्

स्वस्ति पन्थामनुचरेम ॥

हम कल्याण-मार्ग के पथिक बनें।

संवर्द्धिनी

वर्ष - 2022-23 **विक्रम सम्वत् - 2079** **विशेषाङ्क - 14**

सम्पादक :-

आचार्य श्याम

दूरभाष - 09811064932, 09350233885

सह-सम्पादक :-

डा0 कर्णदेव शास्त्री

दूरभाष - 09810322989

संरक्षक :-

सतीश मेहता, सुनील कोहली, रवि कोहली
कृष्णा झॉब, नीलम सूद, सरला सुखीजा

कार्यालय :-

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

जी-150, नारायण विहार, नई दिल्ली-28

दूरभाष - 09350733444, 09555534381

प्रधान कार्यालय :-

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

ए 1/148 बी, मधु विहार, नई दिल्ली-59

E-mail - samvardhini@yahoo.co.in
dharm.samvardhini@gmail.com

Website - www.dharmsamvardhini.com

कहाँ क्या पढ़ें ? .....

1.	प्रभु-वन्दन	पृष्ठ-2
2.	सम्पादकीय	पृष्ठ-3
3.	वेदामृतम्	पृष्ठ-5
4.	मनुष्यता का प्रथम सोपान	पृष्ठ-23
5.	मानव-विकास की वैदिक पद्धति	पृष्ठ-25
6.	वही तो आर्य होता है	पृष्ठ-31
7.	एक बलिदानी नारी - कैकेयी	पृष्ठ-32
8.	कर्मवीर	पृष्ठ-34
9.	मातृवत् परदारेषु	पृष्ठ-35
10.	वेदव्यास-उवाच	पृष्ठ-38
11.	स्वर्णिम युग निर्माण करें हम	पृष्ठ-38
12.	योग व योगा - समालोचनात्मक ...	पृष्ठ-39
13.	गुरुकुलीय शिक्षा का प्रभाव	पृष्ठ-42
14.	गोस्वामी तुलसीदास का व्यक्तित्त्व ...	पृष्ठ-43
15.	यज्ञ - एक प्रभावकारी चिकित्सा	पृष्ठ-47

ओ३म्

प्रभु-वन्दन

अश्वा॑वती॒र्गोम॑तीर्न उ॒षासो॑ वी॒रव॑ती॒: सद॑मुच्छन्तु भ॒द्रा:।
घृ॒तं दुहा॑ना वि॒श्वत॒: प्रपी॑ता यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒: सदा॑ न:॥

(ऋ0 7/42/7)

[वसिष्ठः ऋषिः। उषा देवता। निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः]

* पद्यार्थ *

सभी गृहों की आवश्यकता, सुन्दरता से पूर्ण करो।
अश्व, धेनु, सन्तान, आज्य से, कलरव-मय घर खूब भरो॥

विश्व सुखी उन्नतियों वाली, नव-प्रभात बेला उजियाली।
चमको, हे जगती के माली !, बेल-फूल तरु-तरु की डाली॥

अपने प्यार भरे हाथों से, दो संवार, फिर दो वह प्याली।
मधुर सोम से भरी, जिसे पी, हो जावे दुनिया मतवाली॥

मिलकर सभी देव शुभचिन्तक, रहें हमारे जन्म-जन्म तक।
भक्ति, विनय, सम्मान, प्रेम का, मेल अनोखा, योग-क्षेम का॥

हृदय लिये जोड़े अञ्जलियाँ, भिगो अश्रु-जल से देहलियाँ।
नत-शिर खड़े हुए करते हैं, वन्दन, इन्द्र ! तुम्हें वरते हैं॥

वेदव्रत

सम्पादकीय



संसार में प्रायः दो नियम कार्य करते हैं, प्रथम - **ईश्वरीय-नियम** और द्वितीय - **सामाजिक-नियम**। ईश्वरीय-नियम वे हैं जो ईश्वर की व्यवस्था से चलते हैं और सामाजिक-नियम वे हैं जो मनुष्य-समूह के द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। ईश्वर का ज्ञान परिपूर्ण है, इसलिये उसके नियम भी परिपूर्ण हैं; मनुष्य का ज्ञान परिपूर्ण नहीं है, इसलिये उसके नियम कभी भी परिपूर्ण नहीं हो सकते। ईश्वरीय-व्यवस्था परिपूर्ण-महाशक्ति द्वारा संचालित होने के कारण अपरिवर्तनशील है, जबकि मनुष्यकृत सामाजिक व्यवस्था परिपूर्ण न होने के कारण सदा परिवर्तनशील बनी रहती है। सामाजिक व्यवस्था में मनुष्य अपनी बुद्धि व आवश्यकताओं के आधार पर समय-समय पर परिवर्तन करता रहता है, पर ईश्वरीय व्यवस्था समग्र ज्ञान-बल युक्त ईश्वर के द्वारा व्यवस्थित होने के कारण सदा अपरिवर्तन दशा में एक ही रहती है। परन्तु जब मनुष्य अपने स्वार्थ के कारण ईश्वरीय-व्यवस्था में छेड़छाड़ वा परिवर्तन करने का दुस्साहस करता है, तो फिर स्वाभाविक है कि उस असंतुलन का प्रभाव परिपूर्ण ईश्वर व उसकी व्यवस्था पर नहीं पड़ता, अपितु मनुष्य-जगत् पर ही पड़ता है। ईश्वर ने जड़-प्रकृति को अपने नियमानुसार व्यवस्थित किया है, इस कारण वह प्रकृति चाहे जड़ दिखाई दे, पर उसका अस्तित्त्व और उसकी व्यवस्था चेतन-ईश्वराधीन होने के कारण उस व्यवस्था को यदि कोई परिवर्तन करने की चेष्टा करता है, तो स्वाभाविक है कि अव्यवस्था का परिणाम भी अव्यवस्था फैलाने वाले को ही मिलेगा। हम प्रायः समझते हैं कि प्रकृति जड़ है, हम इसका मनमाना उपयोग कर सकते हैं; परन्तु कभी हमने यह विचार नहीं किया कि जड़-प्रकृति स्वयं कार्य नहीं करती, अपितु एक सशक्त नियामक की व्यवस्था में कार्य करती है। इसलिये आप उसे ईश्वरीय-नियम कहें या प्राकृतिक-नियम, यदि आपने उन नियमों का अतिक्रमण किया, तो उसका फल अतिक्रमण करनेवाले को अवश्य ही मिलेगा।

पिछले दो वर्षों में जिस **कोरोना** नामक महामारी के संक्रमण ने विश्व के कौने-कौने में चुपचाप दस्तक देकर आतङ्कित किया, और हमारी सभी व्यवस्थाओं को अव्यवस्थित कर, हमें कैदी की भाँति असमर्थता की स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया, यदि उसके मूल की भूल को हम टटोलने का प्रयत्न करें तो हम इस परिणाम पर अवश्य ही पहुँचेंगे कि - मनुष्य के स्वार्थ ने ईश्वरीय-व्यवस्था में जितना-जितना हस्तक्षेप करके स्व-लाभ उठाने की कोशिश की, प्रकृति वा ईश्वर ने उस स्वार्थी-मनुष्य-समाज को समय-समय पर झटका देकर सजग भी किया। पर अपवाद को छोड़कर समस्त मनुष्य-

समाज इतनी स्वार्थान्ध स्थिति का अभ्यासी बन गया है, कि वह उन घटनाओं से कोई भी सन्देश प्राप्त नहीं करना ही नहीं चाहता।

आज से लगभग एक सौ वर्ष पूर्व जिस प्लेग नामक बीमारी ने भारत में जिस प्रकार से हा-हाकार मचाया था, उस समय पर लोगों को नाक-मुँह पर कपड़े बाँधकर कार्य करने को मजबूर होना पड़ा; आज सौ वर्ष बाद भी यदि हम उसी स्थिति में खड़े हैं, जबकि हमने पिछले सौ वर्षों में उन्नति करने के सैकड़ों दावे भी किये हैं, तो उन दावों में स्वार्थ चाहे किसी मनुष्य-विशेष का हो वा किसी देश-विशेष का, पर उस स्वार्थमयी प्रवृत्ति का दुष्परिणाम अकाल, बाढ़, सुनामी, भूकम्प, कोरोना, ओमीक्रोन जैसी महामारी के रूप में हमें तब तक मिलता रहेगा, जब तक हम अपनी वृत्ति सुधारवादी और उदारवादी नहीं बनायेंगे। हमारे धर्मशास्त्र हमें मर्यादा का पालन करने का सन्देश देते हैं, हमारे सन्त-महात्मा विद्वान् जन भी अपने सदुपदेश से हमें समय-समय पर सजग करते हैं, प्रकृति दुष्परिणाम दिखाकर अपनी सत्ता-महत्ता की अनुभूति कराती है; यदि हम इतने पर भी ईश्वरीय-नियम या प्राकृतिक-नियम का विखण्डन न रोक सके, तो आप समझ लीजिये कि इस पृथ्वी पर मनुष्य-समाज का विनाश शीघ्र ही निश्चित है। बुद्धिमान् मनुष्य व मनुष्य-समाज वह है, जो इन घटित होने वाली घटनाओं से शिक्षा ले। अपने में सुधार करने का संकल्प लेकर स्व-जीवन को स्वार्थ से हटाकर परार्थ के पथ पर चलाने का प्रयत्न करे। यदि हम और आप ऐसा कर सके, तो हम अपने अस्तित्त्व को सुरक्षित रखने में समर्थ हो सकते हैं; अन्यथा हम ऐसे मुंहाने पर खड़े हैं कि पता नहीं कौन-सा क्षण आये और हमारा अस्तित्त्व सदा-सदा के लिये विनष्ट हो जाय।

'धर्म संवर्द्धिनी सभा' का मुख्य उद्देश्य सन्मार्ग पर मनुष्य-समाज को प्रेरित करना है। जो नियम प्राचीन ऋषि-मुनियों ने वेद-शास्त्रों द्वारा निर्धारित किये थे, उन वैदिक-नियमों व मर्यादाओं के प्रति लोगों को सजग करना है। महर्षि दयानन्द द्वारा निर्धारित सार्वभौमिक दस सूत्रों को आधार बनाकर, सुधारवादी क्रान्ति का प्रसार करना है। स्वार्थ को छोड़कर परार्थ की ओर, भोग को छोड़कर योग की ओर, मृत्यु को छोड़कर अमृत की ओर, अन्धकार को छोड़कर प्रकाश की ओर, भौतिकवाद को छोड़कर अध्यात्मवाद की ओर ले जाना ही इस संस्था का मुख्य उद्देश्य है।

यदि आप समझते हैं कि हमारी संस्था का उद्देश्य समुचित है, तो फिर आप हमारी संस्था के कार्यकर्त्ताओं के साथ अपनी भागीदारी बनाने का प्रयत्न करें। आपकी सहकारिता और आपका सहयोग यदि मनुष्य-समाज में जाग्रति की चेतना उत्पन्न कर, हमारी अगली पीढ़ी को वैदिक-संस्कृति से जोड़ने का कार्य कर सका, तो आप निश्चित मान लीजिये कि हमारे सक्रिय कार्यकर्त्ता, भोगवादी प्रवृत्ति से समाज को पृथक् कर योग और उपयोग के अनुयोग की प्रवृत्ति उत्पन्न करने में अवश्य ही समर्थ होंगे। ❐

वेदामृतम्

आचार्य श्याम

अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः।
आरे देवा द्वेषो अस्मद् युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये ॥

(ऋग्वेद 10/63/12)

(गयःप्लातः ऋषिः। विश्वेदेवा देवता। विराट् जगती छन्दः। निषाद् स्वरः)

पदच्छेदः –

अप। अमीवाम्। अप। विश्वाम्। अनाहुतिम्। अप। अरातिम्। दुर्विदत्राम्। अघायतः। आरे। देवाः। द्वेषः। अस्मत्। युयोतन। उरु। नः। शर्म। यच्छत्। आ। स्वस्तये।

शब्दार्थः –

(अप) पृथक् करो **(अमीवाम्)** हमारे शरीर के समस्त रोगों को अथवा रोगात्पादक शक्तियों को **(अप)** पृथक् कर दो, आप **(विश्वाम्)** सम्पूर्ण **(अनाहुतिम्)** आहुति न देने की भावना को **(अप)** हमसे पृथक् कर दो **(अरातिम्)** दान न करने की कृपण-वृत्ति को और हमसे **(दुर्विदत्राम्)** दुःख उत्पन्न करने वाली दुष्ट-बुद्धि को, तथा **(अघायतः)** पाप करने वाली दुष्प्रवृत्ति को **(आरे)** दूर करो **(देवाः)** हे विश्व के देवो या विद्वानो ! आप अपनी कृपा से **(द्वेषः)** द्वेष-बुद्धि को **(अस्मत्)** हमसे **(युयोतन)** दूर कीजिये **(उरु)** महान्, विस्तीर्ण **(नः)** हमारे **(शर्म)** सुख को **(यच्छत्)** प्रदान करो **(आ)** अच्छी प्रकार **(स्वस्तये)** कल्याण के लिये।

भावार्थः –

हे विश्व के समस्त देवो अथवा विद्वानो ! आप हमारे समस्त रोगों को अथवा रोगात्पादक शक्तियों को हमसे दूर कर दो। हमारी यज्ञ न करने की भावना को सदा-सदा के लिये विनष्ट कर दो। हमारी अत्याचारमयी दुष्ट-बुद्धि को हमसे पृथक् कर दो। हमारी द्वेषात्मक-बुद्धि या प्रवृत्ति को हमारे जीवन से पूर्णतः पृथक् कर दो। आप अपनी अनुकम्पा से हमारे कल्याण के लिये हमें सर्व-सुख प्रदान करो, यही आपसे हम बारम्बार प्रार्थना करते हैं; आप हमारी इस प्रार्थना को स्वीकार करो।

व्याख्या –

प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'विश्वेदेवा' है। इसका अर्थ है – विश्व का देव। संसार में विश्व के दो ही देव हो सकते हैं – प्रथम **परमात्मा** – जो देवों का देव महादेव है, और दूसरा **विद्वान्** – जो मानवजाति का कल्याण करने हेतु निष्पक्षता से विद्यादान देकर अविद्यान्धकार को दूर कर ज्ञान–प्रकाश को फैलाता है। तभी तो महर्षि चाणक्य ने **'विद्वान् प्रशस्यते लोके'** कहकर विद्वान् की महत्ता को द्योतित किया है। कभी भारतवर्ष में विद्या और विद्वानों का सम्मान इस प्रकार से होता था कि वैदेशिक–लोग भी विद्या ग्रहण करने की इच्छा से भारतवर्ष के गुरुचरणों में बैठना, अपना परम–सौभाग्य समझते थे। उस काल में विद्या की प्रधानता के कारण वेदवित् विद्वानों का सम्मान इस प्रकार से होता था कि यदि कोई विद्वान् किसी मार्ग पर पदयात्रा करते हुए राजा को दिखाई दे जाता था तो राजा अपने घोड़े से उतरकर, उस विद्वान् का अभिवादन कर, उससे आशीर्वाद प्राप्त करना, अपना परम–सौभाग्य मानता था।

वर्त्तमान समय में विद्या के स्थान पर धन प्रमुख हो गया है। इसलिये धनीपुरुष का सानिध्य करना, आज के समय में सौभाग्य समझा जाता है। फिर भी, आप इतना निश्चित मान लीजिये कि – विद्वान् की पूजा उसकी विद्या के कारण होती है; इसी कारण से आज भी विद्वानों का सम्मान, समाज में प्रचलित है।

दूसरा कारण यह भी है कि – धन भौतिकसुख प्रदान कर सकता है, पर विद्वान् के द्वारा दिया हुआ ज्ञान, मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को आन्तरिक–सुख से भर देता है। इसीलिये यदि अन्तस्तल में कल्याण प्राप्त करने की इच्छा सन्निहित है, तो प्रातः–सायं परमात्मा से सद्बुद्धि की याचना करते हुए, किसी वेदवित् विद्वान् के चरणों में जिज्ञासु–भाव से बैठने का प्रयत्न करो। वह विद्वान् जिन बुराईयों को दूर करने का संकेत व उपाय बतलायें, उन बुराईयों का उपक्षय करो, तभी आप जीवन का कल्याण कर सकते हैं।

प्रस्तुत मन्त्र में जिन बुराईयों को दूर करने का संकेत दिया गया है, वह निम्न प्रकार है –

(1) अपार्मीवाम् –

हे विद्वानो ! आप हमारे रोग या रोगोत्पादक शक्ति को हमसे दूर कर, हमारे जीवन की सब प्रकार से रक्षा करो।

बात बिल्कुल साधारण–सी प्रतीत होती है, परन्तु है – महत्त्वपूर्ण। कारण यह कि जिस शरीर के द्वारा मनुष्य इहलौकिक और पारलौकिक सुख प्राप्त करने का कार्य करता है, यदि वह शरीर रोगयुक्त है, तो न इहलौकिक–सुख अर्जित होगा और न पारलौकिक–सुख। तभी तो महाकवि कालिदासजी ने लिखा है–

'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्'

अर्थात् – धर्म की साधना का आधार शरीर है। यदि शरीर ठीक है, तो आप उन्नतिपथ पर कदम बढ़ा सकते हैं; अन्यथा आप पशुवत् जीवन व्यतीत कर, अपने जीवन में कोई विशेष परिणाम प्राप्त नहीं कर सकते।

महर्षि चाणक्यजी अपने नीतिशास्त्र में एक स्थान पर लिखते हैं –

कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययाऽऽगमौ। कश्चाऽहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ॥ (4/18)

अर्थात् - कौन सा काल है, कौन मित्र है, कौन देश है, क्या व्यय और आगम है, कितनी मेरी शक्ति है - इस बात का चिन्तन मनुष्य को बार-बार करना चाहिये।

इस श्लोक की सङ्गति दो प्रकार से की जा सकती है। प्रथम यह कि- मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज में सम्मानजनक स्थिति तथा मनोवाञ्छित फल प्राप्ति के लिये उसे जीवन में किन-किन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहये, यह उद्देश्य स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

दूसरा यह कि - मनुष्य अपने शरीर को स्वस्थ रखने तथा लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये उसे हर क्षण यह भी सोचना चाहिये कि - मेरी कैसी अवस्था है? मेरे शरीर के लिये कौन-सा भोजन मित्र और कौन-सा शत्रु है? मैं किस स्थान पर निवास कर रहा हूँ? वहाँ कौन-सा पदार्थ मेरे लिये हितकारी है? मेरे शरीर का आन्तरिक-भाग ठीक प्रकार से कार्य कर रहा है वा नहीं? क्योंकि जो भोजन किया जाता है, वह रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा और वीर्य आदि सात भागों में परिवर्तित होता है। कहीं ऐसा तो नहीं कि मेरे शरीर के अन्दर कुछ विभागों ने कार्य करना ही बन्द कर दिया हो? कहीं मैं विषमता का शिकार तो नहीं हो रहा? यदि है, तो मैं उसका निदान किस प्रकार से कर सकता हूँ? ऐसा विचार और उपचार करने वाला मनुष्य ही अपने शरीर को स्वस्थ बना सकता है।

महर्षि मनुजी ने भी जब ब्राह्ममुहूर्त के करनेवाले कार्यों का सूची तैयार की है, तो **'कायक्लेशांश्च तन्मूलान्'** कहकर शरीर के क्लेश, दुःख-सन्तापों को समझना और उनके निवारण का सन्देश दिया है।

बात स्पष्ट यह है कि जिस शरीररूपी घर के अन्दर आत्मा निवास करता है, यदि वह शरीर जर्जरित है, रोगरूपी कीड़े-मकोड़ों से ग्रस्त है, तो आप स्वयं ही ऐसे घर को अच्छा नहीं समझते, तो फिर अपने परमपिता परमात्मा का आवाहन उस रोगग्रस्त घर में कैसे कर पाओगे ? सामवेद का प्रथम मन्त्र **"अग्न आ याहि वीतये..."** इस बात का परिचायक है कि जब उपासक अपने शरीररूपी घरोंदे को पूर्णरूप से पवित्र कर लेता है तब वह अपने परमपिता से प्रार्थना करता है - 'हे पिता ! मैंने अपने हृदय की सभी मलिनताओं को दूर कर दिया है। आप मेरे पवित्र हृदय को अपना आवास बनायें, जिससे मुझे आपके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता रहे।'

इसका अभिप्राय यह है कि यदि कोई मनुष्य प्रभु के साथ मङ्गलमिलन की इच्छा रखता है, तो उसे सर्वप्रथम अपने शरीररूपी घर को अन्दर-बाहर से पवित्र करना पड़ेगा। उसके लिये आवश्यक है कि उसकी दृष्टि इतनी पैनी हो कि शरीर में प्रवेश करने वाले अथवा शरीर के अन्दर ही उत्पन्न होनेवाले रोगों की वह सम्यक् पहचान कर सके। इस कार्य में सफलता तभी प्राप्त हो सकती है, जब उसे रोगों की पहचान हो। उस पहचान को प्राप्त करने के लिये उस साधक को किसी विद्वान् की शरण में जाकर, उनसे वह ज्ञान

प्राप्त करना होगा, जिससे वह यह जान सके कि- मेरे शरीर में रोगों का प्रवेश क्यों होता है वा मेरे शरीर के अन्दर रोग क्यों उत्पन्न होते हैं ? उन रोगों का निवारण कैसे और किन औषधियों के द्वारा किया जा सकता है ? इन सब समस्याओं का समाधान किसी आयुर्वेदज्ञ विद्वान् की शरण में जाकर ही हो सकता है। आजकल के डाक्टर-वैद्यों की तरह नहीं, जो रोगी से रोग का नाम पूछते हैं, फिर टेस्ट लिखते हैं, पश्चात् उन टेस्टों के आधार पर केप्सूल-गोलियों का पर्चा लिखकर दे देते हैं। ऐसे डाक्टर कुछ समय तक रोगों का दमन तो कर सकते हैं, पर उनका शमन नहीं कर सकते। दमन किया हुआ रोग उस समय शायद दब जाये, पर कुछ काल के बाद जब वह पुनः प्रकट होगा, तब तक आपका शरीर रोगों का घर बन चुका होगा।

आयुर्वेद के ऋषि कहते हैं कि ऐसा वैद्य वा डाक्टर अच्छा नहीं। वैद्य वा डाक्टर वह ही अच्छा है - जो रोग को समझे, उसकी उत्पत्ति के कारण तक पहुँचे, उसका किस प्रकार निदान किया जा सकता है, इस बात पर चिन्तन करे और किन औषधियों के द्वारा रोग का पूर्ण निवारण हो सकता है। इसलिये आयुर्वेदादि ग्रन्थों में जब किसी वैद्य द्वारा रोग की चिकित्सा का वर्णन किया गया है तो वहाँ प्रमुखता से चार बिन्दुओं को स्पष्ट किया गया है - **(क) रोग (ख) रोग-निदान (ग) आरोग्य (घ) आरोग्य हेतु - औषध्यादि।** यदि कोई आयुर्वेद का विद्वान् इन चारों विषयों की योग्यता रखता हो, तो यह सुनिश्चित है कि उसकी शरण में जाने वाला मनुष्य अवश्य ही रोगमुक्त होगा। इसलिये वेद भगवान् कहते हैं - **'अपामीवाम्'** हे शारीरिक विद्या के ज्ञान रखने वाले विद्वानो ! आप मेरे शरीर को रोगरहित कर, मुझे पूर्ण स्वस्थता प्रदान करो। इसका लाभ यह होगा कि स्वस्थ-शरीर में ही स्वस्थ मन और बुद्धि का निवास होता है। स्वस्थ मन-बुद्धि से ही आत्मा में स्वस्थ संस्कारों का वास होता है। वही स्वस्थ-संस्कार वा सुसंस्कार जब आत्मा में स्थित होने लगते हैं तो उनकी स्व-स्थिति होने के कारण आत्मा, परमात्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। इसलिये परमात्मा से स्वस्थता की याचना करते हुए उन विद्वानों के उपदेश को प्राप्त करो, जो आपकी आयु का संवर्द्धन करनेवाले हों; जो आपके रोगों का निवारण करने वाले हों। यदि ऐसा कोई मनुष्य कर सका, तो निश्चित समझ लीजिये कि उसने शारीरिक सौख्य व उन्नति के प्रथम सोपान पर कदम रख लिया। वेदमन्त्र पुनः अगला सन्देश देते हैं -

(2) अप॒ विश्व॒ामना॑हुति॒म् -

हे परमात्मन् वा विद्वान् जनो ! आप मेरे जीवन से अनाहुति भाव को पूर्णतः पृथक् कर दो।

याद रखो, जो मनुष्य संसार के पदार्थों का उपभोग करना चाहता है, पर उनकी वृद्धि-समृद्धि के लिये किसी भी प्रकार की यज्ञाहुति देना नहीं चाहता, वह मनुष्य पापी है। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है -

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(गीता 3/13)

अर्थात् - जो यज्ञ करके पदार्थों का उपभोग करते हैं, उनके द्वारा किया हुआ यज्ञकार्य, यज्ञकरनेवाले को पापमुक्त कर देता है। परन्तु जो ऐसा नहीं करते, पर भोगपदार्थों का सेवन करते हैं, वे उन पदार्थों का भोग नहीं कर रहे, अपितु पाप का भोग कर रहे हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण के सन्देश के आधार पर पाप से बचने का साधन है - **यज्ञ** अर्थात् किसी न किसी प्रकार की आहुति देना। जो यज्ञाहुति नहीं देता, वह यज्ञ का विध्वंस कर, राक्षस बनकर, पाप-भोग करते हुए निरन्तर पाप के पाश में आबद्ध होता जाता है। तभी तो प्राचीन ऋषियों ने समस्त मानवजाति को भोग के साथ यज्ञकर्म करने का प्रमुख सन्देश दिया। उनकी मान्यता थी कि जो मनुष्य मात्र सांसारिक पदार्थों का उपभोग करता है, पर किसी भी प्रकार से सृष्टियज्ञ में आहुति नहीं देता, वह प्रकृति व ईश्वरीय-नियम का उल्लङ्घन कर, पापी होता है।

आप कभी कल्पना कीजिये कि परमात्मा ने प्रकृति के त्रिविध मूलतत्वों से सृष्टि की सर्जना मनुष्य के लिये की। मनुष्य का अवतरण इस धरा पर आदिकाल में जब हुआ, तब मनुष्य-जीवन की आवश्यकताओं के पूर्त्यर्थ परमात्मा ने फल-वनस्पति-औषध्यादि समस्त पदार्थों का पूर्व ही निर्माण कर दिया। यदि वह प्रभु पहले मनुष्य को उत्पन्न कर देता और बाद में भोगपदार्थों की रचना करता, तो जब तक भोगपदार्थ भोगने योग्य बनते, तब तक क्षुधा की तृप्ति न होने से मनुष्यजाति का पूर्णतः विनाश हो चुका होता। परन्तु परमात्मा ने ऐसा नहीं किया। उसने पहले भोगपदार्थों को बनाया, बाद में भोक्ता को उत्पन्न किया। यह उस परमप्रभु की दयालुता-कृपालुता का स्वयं में प्रमाण है। आज भी इस पृथिवी पर जब किसी बच्चे का जन्म होता है तो जन्म होने से पूर्व ही परमात्मा उस बालक की मां के स्तनों में दूध उत्पन्न कर देता है। यदि ऐसा न हो तो शायद बच्चे का जीवन असम्भव हो जाय।

सृष्टिचक्र का नियम ही यह है - पहले भोगपदार्थ, बाद में भोगनेवाला। परन्तु मनुष्य समाज में कुछ ऐसे भी नामधारी मनुष्य भी हैं जो श्रम नहीं करना चाहते, भोगपदार्थों की उत्पत्ति-संरक्षण में किसी भी प्रकार का सहयोग भी नहीं देना चाहते, पर भोगपदार्थों को अधिक से अधिक प्राप्त कर, स्वच्छन्दतापूर्वक उनका उपभोग करना चाहते हैं। क्या ऐसी राक्षसीवृत्ति वाले इस सृष्टि पर बोझ नहीं हैं ? क्या वे पापी नहीं हैं ? अरे ! श्रम करे दूसरा और भोग भोगें वे स्वयं। ऐसा क्रम आप कितने दिन चला सकते हैं? आख़िर में व्यतिक्रम की भी एक सीमा है। कहीं ऐसा न हो कि - **भोग भोगनेवाला अयज्ञीय-भावना के कारण उस भोग का ही निबाला बन जाय ?**

इससे बचने का एक ही उपाय है कि - इस सृष्टियज्ञ में किसी न किसी प्रकार से आहुति दी जाय। यदि तन-मन-धन तीनों प्रकार की आहुति दी जा सके तो सर्वश्रेष्ठ; अन्यथा आपके अन्दर जो योग्यता व क्षमता हो, उसके अनुसार सृष्टियज्ञ में अपना योगदान दें, वही आपका यज्ञ होगा।

प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इस सृष्टियज्ञ की नैरन्तर्यता के लिये यज्ञीय-परम्परा का अन्वेषण कर, संसार के समस्त मानवों को सन्देश दिया -

अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः ॥ (ऋ.भा.भू.)

यदि स्वर्गीय-सुख की कामना है तो मनुष्य को यज्ञ करना चाहिये।

ईजा॒ना स्व॒र्गं यन्ति॑ ॥ (अथ0 18/4/2)

यज्ञ करनेवाले मनुष्य ही सुख-समृद्धि युक्त होते हैं।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यःकुरुसत्तम॥
(गीता 4/31)

यज्ञ न करनेवालों के लिये जब यह लोक ही सुखकारी नहीं, तो फिर उन्हें सुखकारी परलोक कैसे प्राप्त होगा ?

आप इसको सरलता से निम्न उदाहरण द्वारा समझें। मान लीजिये कि - किसी पिता ने दश करोड़ की राशि अपने पुत्र के बैंक में डाल दी। अब पुत्र उस राशि के कुछ भाग को अपने ए.टी.एम. या चैक द्वारा प्रतिदिन निकाल लेता है, पर उस बैंक में कभी कोई राशि नहीं डालता। रुपये निकालते समय वह प्रसन्न भी होता है, क्योंकि उस रुपये से वह इच्छित पदार्थों को प्राप्त कर लेता है। पर उसके जीवन में एक दिन ऐसा भी आयेगा कि जब उसे बैंक से रुपया मिलना ही बन्द हो जायेगा, क्योंकि अब बैंक का खाता खाली हो चुका है।

ऐसी स्थिति उस युवक की क्यों बनी ? तब आप सहजता से कहेंगे कि - उस युवक ने रुपये निकाले ही निकाले हैं, पर बैंक के खाते में कभी रुपये डाले ही नहीं; इसलिये उसे रुपये मिलना बन्द हो गया है। यदि वह समय-समय पर बैंक में धनराशि डालता रहता तो आज उसको यह दिन देखना न पड़ता।

अब आप विचार करके देखें कि - क्या हम भी प्रकृति के ख़जाने से प्रतिदिन कुछ न कुछ नहीं लेते ? प्रकाश, वायु, जल, अन्न, औषधि, फल, शाकादि सब जीवनोपयोगी पदार्थ हम प्रकृति से प्राप्त करते हैं। यदि हम प्रकृति से लेते ही लेते रहें, पर प्रकृति को कुछ वापिस न करें, तो यह प्रकृति हमें कब तक देगी ? कभी न कभी वह हमसे रुष्ट भी होगी; क्योंकि हमने भोग के साथ जो यज्ञ का नियम है, उसका उल्लङ्घन किया है। आज जो भूकम्प, सुनामी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि अनेकों रूपों में होने वाले उत्पातों को जब हम देखते हैं, यदि इसके मूलकारण तक पहुँचने का प्रयत्न करें, तो हमें ज्ञात होगा कि यह सब हमारे यज्ञ-विध्वंस करने, ईश्वरीय-नियम तोड़ने या सृष्टियज्ञ में आहुति न देने का परिणाम है। यदि हम भोग के साथ यज्ञ के रहस्य को समझ लेते, तो शायद आज हमें ये दुर्दिन न देखने पड़ते। तभी तो वेद में कहा है -

अ॒यज्ञि॒यो ह॒तव॑र्चा भवति॒ ॥ (अथ0 12/2/37)

जो मनुष्य यज्ञ नहीं करता, उसका जीवन निस्तेज व भविष्य अन्धकारमय हो जाता है।

प्राचीनकाल में घर-घर यज्ञ करने की परम्परा थी। जो यज्ञ नहीं करता था, उसे पापी समझा जाता था। समाज उसको बहिष्कृत कर देता था। उनका जीवन निन्दनीय बन जाता था। इस भय के कारण समाज का प्रत्येक मनुष्य

यज्ञाहुति न देने की कल्पना तक नहीं कर सकता था। जब ऐसा समय था, उस समय सभी मनुष्य इस पृथिवी पर सुखपूर्वक वास करते थे। तभी तो किसी कवि ने उत्प्रेक्षा करते हुए लिखा है –

यदि कदापि पुरा पतिताश्रवः श्रुतिगता हि द्विजा न च वाऽन्यथा। परमियं वसुधाऽत्र विना क्रतुं परिव्रताऽश्रुजलैरिति चित्रता॥

अर्थात् – यदि प्राचीनकाल में किसी की आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित होती थी, तो केवल यज्ञधूम के कारण ही आँखों से आँसू निकलते थे, अन्यथा इस देश में किसी भी प्रकार का रोग, शोक, भय आदि कुछ भी नहीं था।

रामायणकाल में भी यज्ञीय परम्परा का पोषण होता था। तभी तो गोस्वामीजी ने लिखा है –

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राजराज्य नहिं काहउ व्यापा॥

त्रिविध प्रकार के दुःख रामराज्य में नहीं थे; क्योंकि उस काल में कोई वेदविरुद्ध कर्म न करता था।

तभी तो राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जी ने 'साकेत' नामक ग्रन्थ में लिखा है –

स्वस्थ, शिक्षित, शिष्ट, उद्योगी सभी।
बाह्य भोगी, आन्तरिक योगी सभी॥

उस काल में कोई ऐसा मनुष्य नहीं था जो यज्ञ न करता हो। भगवान् श्रीराम यज्ञ करते थे। भगवती सीता यज्ञ करती थी। महाराज दशरथ यज्ञ करते थे। महारानी कौशल्या **'अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला'** प्रतिदिन वेदमन्त्रों के द्वारा यज्ञ करती थी। यहाँ तक कि महाराज दशरथ के राज्य में कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं था, जो यज्ञ न करता हो। तभी तो महर्षि बाल्मीकिजी ने **'नानाहिताग्निर्नायज्वा'** कहकर – 'दशरथ के राज्य में कोई यज्ञ न करनेवाला अयाज्ञिक नहीं था' इस बात को स्वयं लिखा है।

याद रखो, भोग के साथ यज्ञ का घनिष्ट सम्बन्ध है। यदि हमारा जीवन भोगपदार्थों के उपयोग और उपभोग के बिना नहीं चल सकता, तो हमें यह भी याद रखना चाहिये कि भोगपदार्थों की उत्पत्ति भी बिना यज्ञ के असम्भव है। उसमें तन-मन-धन या किसी अन्य प्रकार की आहुति देनी ही पड़ती है। यदि हम सृष्टियज्ञ में आहुति नहीं देते और भोग भोगने में तत्पर रहते हैं, तो यह बात स्वाभाविक है कि हम दूसरे के श्रम से अर्जित किये पदार्थ का भोग कर रहे हैं; जबकि यह पापकृत्य है। इस पापकृत्य से बचने का एक ही उपाय है कि – 'हम संकल्प करें कि सृष्टि-यज्ञ में आहुति दिये बिना भोगपदार्थों का सेवन नहीं करेंगे।' इस प्रकार के संकल्प से हमारी यज्ञ के प्रति श्रद्धा बढ़ेगी, और हम यज्ञ के बिना भोग को पाप-कर्म मानकर भोग भोगने की प्रवृत्ति से बचेंगे। इस प्रकार की हमारी यज्ञीय-भावना हमें उन्नति के सोपान पर निश्चित ही आरूढ़ करेगी।

आगे के सोपान पर आरूढ़ होने के लिए वेदमन्त्र पुनः संकेत देता है –

(3) अपारातिम् –

अपारातिम् का अर्थ है – **अप**=दूर करो, **अरातिम्**=दान न करने की दुष्ट-भावना को। अर्थात् – हे विद्वान् जनो ! आपकी कृपा से हममें

दान न करने की भावना पूर्णतः दूर हो जाय। हम जो भी अर्जित करें, उसका कुछ भाग सामाजिक समृद्धि के लिए दान-रूप में अवश्य निकालें।

प्रायः आपने अनेकों लोगों से सुना होगा, जो यह कहते हैं कि - दूसरों का हक़ (अधिकार) छीनकर जो खाये, वह राक्षस होता है। जो स्वयं परिश्रम से अर्जित करके खाये, वह मनुष्य होता है और जो परिश्रम से अर्जित कर बाँटकर खाये, वह देव होता है। यहाँ हम राक्षसों की चर्चा नहीं कर रहे, मात्र मनुष्य और देव लोगों की भावना का आंकलन करते हुए **'राति'** उपयुक्त है या **'अराति'** - इसका विश्लेषण करने का प्रयास करेंगे।

हम सब जानते हैं कि मनुष्य वह है जो पुरुषार्थ से अर्जित धन का उपयोग करता है। बात सत्य भी है; क्योंकि जिसने श्रम किया है, सर्वप्रथम भोग भोगने का अधिकार उसी का है। ये चिन्तन बिल्कुल सामान्य है, इसमें वैदिक संस्कृति का पुट किञ्चित् भी नहीं है। जिस भावना की चर्चा हम देव में करते हैं कि - जो बाँटकर खाये वह देव है, उस देव के सम्बन्ध में वैदिक चिन्तना बिल्कुल पृथक् है। कारण यह है कि - देव बाँटकर नहीं खाते, अपितु उन्हें जितना दिया जाता है, वे उसे शुद्ध व पवित्र कर, उसमें वृद्धि-समृद्धि करके, सब कुछ लोक-कल्याणार्थ अर्पित कर देते हैं। उनमें अपने हित की भावना किञ्चित् भी नहीं होती।

आप प्रतिदिन यज्ञ द्वारा अग्नि-वायु-जल आदि देवों को जो भी देते हैं, तो क्या वे देव उसे अपने पास रख लेते हैं ? नहीं। अरे ! वे तो उस पदार्थ को, जो आपने उन्हें भेंट किया है, उसे और अधिक शुद्ध व संवर्द्धन करके, फिर हमें वापिस दे देते हैं। देवताओं का नियम यही है कि वह अपने लिये कुछ भी नहीं रखते, अपितु अपना सर्वस्व लोक-कल्याणार्थ अर्पित कर देते हैं। इसलिये **जिनका देना ही देना स्वभाव हो, वह देव कहलाते हैं।** यह बहुत उच्च स्थिति है।

इस सिद्धान्त को आप जड़-देवों वा चेतन देवों - दोनों के अन्दर देख सकते हैं। मनुष्य-समाज ने भी जिन महापुरुषों को देवत्त्व की श्रेणी में रखा है, जिनका देवताओं के समान सम्मान किया जाता है, यदि उनके जीवन पर विहङ्गम दृष्टि डाली जाय, तो प्रतीत होगा कि उन महापुरुषों ने अपने जीवन के लिए कुछ भी नहीं रखा, अपितु जो उनका स्वयं का था, वह भी लोक-कल्याणार्थ अर्पित कर दिया।

याद कीजिये - **महर्षि देव दयानन्द सरस्वतीजी** को; जिन्होंने बचपन में पिता की समस्त सम्पदा को त्याग दिया। उस महापुरुष ने जीवन में जो कुछ प्राप्त किया, वह सब लोक-कल्याणार्थ अर्पित कर दिया। उनका तन-मन-धन लोक-कल्याण के लिए ही था। इसलिये जहाँ अपना हित करने का किञ्चित् भी भाव हृदय में विद्यमान न हो, ऐसी उच्च स्थिति व उच्च विचार वाला **देव** कहलाता है।

महात्मा मुंशीरामजी की वैदिकधर्म के प्रति आस्था इतनी दृढ़ हो चुकी थी कि श्रद्धा के अतिरेक के कारण जब वह संन्यासी के रूप में **स्वामी श्रद्धानन्द** बने, तो उन्होंने संन्यास लेने

से पूर्व अपनी समस्त सम्पत्ति को पुत्र-पुत्रियों को न देकर लोक-कल्याण हेतु अर्पित कर दिया। गुरुकुल काँगड़ी हरिद्वार, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि- देव वह है, जो देता ही देता है, सर्वस्व अर्पित कर देता है। यह स्थिति तब बन पाती है, जब उसमें समग्ररूप से मनुष्यता व्याप्त हो जाये।

अब आपके मन में विचार उत्पन्न होगा कि - हम सब मनुष्य हैं, हम अपने जीवन के लिये श्रम से जो अर्जित करते हैं उस अर्जित धन से हम भोगपदार्थों का उपभोग करते हैं। हमारे अन्दर उतना उच्चभाव नहीं है, जैसा देवत्त्व में देखा जाता है; तो क्या परिश्रम की कमाई का भोग करना मनुष्यत्त्व नहीं है ? जब आप इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर जानने के लिये विचारों का मन्थन करेंगे, तो आपको ज्ञात होगा कि - जिन ऐश्वर्यों को हम पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त कर रहे हैं, उन ऐश्वर्यों को भोग की स्थिति तक बनाने में अनेकानेक लोगों का श्रम अन्तर्निहित है। क्या कभी आपने विचार किया कि जिस वस्त्र से हम अपना शरीर ढ़कते हैं, उस वस्त्र के निर्माण में कितने लोगों का योगदान होता है ? हमारी दृष्टि उस बिन्दु तक नहीं जाती। हम मात्र इतना जानते व मानते हैं कि - हम बाजार गये, दुकानदार से वस्त्र माँगा, 200-500 रुपये मीटर का भाव तय किया और हमारी जितनी आवश्यकता थी, उतना वस्त्र लाकर दर्जी को दे दिया और सिलवाकर पहन लिया। पर कभी आप इस कार्य के मूल तक पहुँचने का प्रयत्न करें और विचार करें कि - जो वस्त्र, मैं खरीदकर लाया हूँ, उसमें कितने लोगों का योगदान है ? जब आप विचार करेंगे - तो आपको प्रतीत होगा कि सबसे प्रथम उस परमपिता परमात्मा की कृपा और सामर्थ्य का योगदान है, जिसने कपास जैसे पौधे का निर्माण किया। फिर उस कृषक की भूमिका को स्मरण कीजिये, जिसने उस खेत में उस फसल को उत्पन्न किया। फिर काटने वाले, बेचने वाले, रूई बनाने वाले, धागा बनाने वाले, वस्त्र का निर्माण करने वाले और उसे दुकान तक पहुँचाने वाले तक जब आप दृष्टि डालेंगे, तब आपको ज्ञात होगा कि जिस वस्त्र को पहनकर मैं अपने शरीर को सुशोभित कर रहा हूँ, उसमें एक-दो नहीं, असंख्यों मनुष्यों का योगदान है। फिर आप अपने पुरुषार्थ से अर्जित धन से लेकर उसकी खरीद, सिलाई और पहनने तक में प्रयुक्त होने वाले हाथों का आंकलन करें, तो आपको ऐसा प्रतीत होगा कि उन सब योगदानों के आगे मेरे श्रम का कोई मूल्य नहीं है। यह तो एक वस्त्र की हमने यहाँ बात कही है, पर जीवन में न जाने हम कितने पदार्थों को उपयोग करते हैं। जब प्रत्येक वस्तु पर इस प्रकार से चिन्तन करेंगे, तो हमें ज्ञात होगा कि मुझ पर असंख्यों मनुष्यों का उपकार है। यदि उनका उपकार न होता तो मैं जिस सम्मानजनक स्थिति में खड़ा हूँ, नहीं रह पाता।

अब आप उन उपकारों का बदला कैसे चुकायें? उसके लिये वैदिक चिन्तन कहता है कि - तुम श्रम से अर्जित कमाई के भाग में से कुछ भाग दानरूप में अवश्य निकालो। दान करना किसी पर अहसान नहीं है, बल्कि अपने को ऋणमुक्त करने का छोटा-सा प्रयास है। जो

परोक्षरूप में अन्य मनुष्यों द्वारा किया गया हम पर उपकार है, उसको दान द्वारा कृतज्ञता के रूप में कुछ सीमा तक अवश्य चुका सकते हैं। इसलिये कहा है –

बिना दिये न कछु मिलै, यह समझे सब कोय।
होत शिशिर में पात तरु, सुरभि सपल्लव होय॥

अर्थात् – यह बात सबको समझ लेनी चाहिये कि दान के बिना मनुष्य को बहुत समय तक सबकुछ प्राप्त नहीं हो सकता। जब शिशिर ऋतु में वृक्षों के पत्ते झड़ जाते हैं, उसके बाद ही उस वृक्ष में नव कोपल, फल और फूल आते हैं।

याद रखो, वह दान भी परोक्ष-भावना से किया जाना चाहिये।

वर्त्तमान समय में दान की परम्परा का निर्वहण करनेवाले जितने भी दानी हैं, उनमें परोक्ष-भावनावाले दानी अपवाद में ही आपको देखने को मिलें; अन्यथा अधिकांश में वे लोग होंगे – जो स्वार्थ भावना का पोषण करने की लालसा से इस प्रकार दान देंगे कि उनका दिया हुआ अल्प-दान भविष्य में उनकी स्वार्थ-सिद्धि में सहायक हो सके। मुझे स्मरण है कि मेरे एक मित्र जो आजकल महाराज के रूप में प्रख्यात है, उनके पास एक धनी व्यक्ति आया और उन्हें अच्छी-सी दक्षिणा चरणों में अर्पित करके चला गया। ये क्रम उस भक्त का कुछ समय चलता रहा। वह भक्त कभी-कभी महाराजजी के ट्रस्ट के लिए कुछ मोटी-सी राशि भी अर्पित कर देता। अब धीरे-धीरे महाराजजी में और धनी व्यक्ति में आत्मीयता का सम्बन्ध बढ़ता गया। आत्मीयता इतनी हुई कि एक दिन धनी व्यक्ति ने महाराजजी से कहा – 'भगवन्! आपको भेंट में जो राशि भक्तों द्वारा मिलती है, यदि आप उसे बैंक में जमा करेंगे तो ब्याज कम होने के कारण आपको कोई विशेष लाभ नहीं होगा। अच्छा यह है कि आप अपना धन मेरे विजनिस में लगा दें, आपको बहुत अच्छा लाभ होगा।' महाराज जी, धनी व्यक्ति द्वारा फैलाये गये लोभ के जाल में फँस गये और उन्होंने अपनी बैंक में रखी सभी पूँजी धनी-व्यक्ति के विजिनिस में लगा दी। उस धनी व्यक्ति का काम बन गया, उसकी डूबती नैया किनारे आ गई। कुछ समय तक तो उसने महाराज जी को उसका लाभांश दिया, पर कुछ समय बाद वह महाराज जी का पूरा का पूरा रुपया डकार गया। अब महाराजजी पुलिस में शिकायत भी नहीं कर सकते। क्योंकि शिकायत करें तो इनकम टैक्स के चक्कर में फँसें और न करें तो रुपया उनका डूब गया। आख़िर में उस धनी व्यक्ति ने महाराज जी का पूरा रुपया डकार लिया और महाराज जी मन मसोस कर रह गये।

ऐसी घटनायें एक-दो नहीं, अख़बारों में आप प्रतिदिन पढ़ते होंगे। पर इन घटनाओं को देखकर आप यह तो कह ही सकते हैं कि – कुछ लोग दान देते हैं, पर उनके मन में किसी न किसी प्रकार से स्वार्थपूर्ति की भावना छिपी होती है। पर कुछ दानी ऐसे भी आपको मिल जायेंगे कि- उनकी आप जितनी अधिक मात्रा में लोकेषणा का संवर्द्धन करते जायेंगे, आपको उतना ही अधिक मात्रा में धन मिलता जायेगा। तभी तो भगवान् श्रीकृष्णजी ने दान को सात्त्विक-राजस और तामस रूप से तीन भागों में विभाजित करते

हुए सात्त्विक-दान को सर्वश्रेष्ठ कहा है। वे कहते हैं -

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

(गीता 17/20)

अर्थात् - दान देना मेरा कर्त्तव्य है, मैंने प्रत्युपकार=बदले में कुछ नहीं लेना। इस भाव से देश-काल-पात्र को ध्यान में रखकर जो दान दिया जाता है, वह सात्त्विक दान है।

अभिप्राय यह है कि - जो दे दिया, उसमें स्वार्थ और लोकेषणा की पूर्ति का भाव किञ्चित् न हो, वह दान है। दान मात्र कर्त्तव्य की भावना से होना चाहिये। तभी तो राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जी ने लिखा है -

दान समय दानी कभी, नहीं सोचते स्वार्थ।
पक्ष छोड़ कर पात्र को, देते सभी पदार्थ॥

वेदमन्त्र का शब्द **'अप अरातिम्'** जिस भाव को अभिव्यक्त कर रहा है, वह है - दान न देने की भावना। क्योंकि **'अराति'** का अर्थ ही यही है - **अ**=नहीं, **राति**=देना। अर्थात् जो न देने की भावना है - हे परमात्मन् वा हे विद्वानो ! आप हमारे जीवन से **अप**=दूर कर दो। क्योंकि दान न देने का भाव **कृपणता** के दोष को उत्पन्न करती है। जहाँ पर कृपणता होती है, वहाँ सामाजिक व्यवस्थायें चरमराने लगती हैं और **अस्तेय**=चोरी की प्रवृत्ति उत्पन्न होने लगती है। उस चोरी के दोष से मनुष्य, दूसरे मनुष्य के अधिकार को छीनने व प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। उस मनुष्य का यही भाव उसे राक्षसत्त्व के गर्त में गिरा देता है। जबकि परमात्मा ने हमें मनुष्य जन्म दिया है। मनुष्य वह होता है - जो मननपूर्वक कार्य करे। पर हमने मनन को इतना संकुचित बना दिया वह मनन येन-केन-प्रकारेण मात्र स्वार्थपूर्ति के उद्देश्य तक ही सीमित रह गया। यदि इस मनन को हम व्यापकत्त्व की स्थिति तक पहुँचा देते, तो हमारे अन्दर वह सद्गुण उत्पन्न होता कि जिससे हम कृतज्ञता का ध्यान करते-करते अपनी अर्जित कमाई में से कुछ न कुछ भाग लोक-कल्याणार्थ अर्पित कर देते। यही अर्पित करने का नाम **'राति'** है, और अर्पित न करने का नाम **'अराति'** है। 'अराति' राक्षसत्त्व की ओर ले जाती है, जबकि 'राति' देवत्त्व की ओर।

यदि इच्छा है **'उरु नः शर्म यच्छता स्वस्तये'** महान् विस्तीर्ण सुख को प्राप्त करने की, तो फिर **राति** के गुण को अपनाना होगा। इसलिये वेद का सन्देश है - शारीरिक रोगों को दूर करके, यज्ञीय-भावना को जीवन में उत्पन्न किया जाय। उस यज्ञीय-भावना से हृदय की विशालता इतनी अधिक व्याप जाये कि हमारे हृदय में न देने की भावना को कहीं भी स्थान न मिल सके; जिससे हमारे कल्याण में कहीं भी अवरोध उत्पन्न न हो। तभी तो भगवान् श्रीकृष्ण जी कहते हैं -

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

(गी0 18/5)

अर्थात् - यज्ञ, दान और तप - मनुष्य को पवित्र करने के साधन हैं। इसका कभी त्याग नहीं करना चाहिये, ऐसा मन्तव्य मनीषियों का

है। इस प्रकार की साधना से हमको परमात्मा की सामीप्यता प्राप्त होगी।

पर इसके साथ इस बात का भी विशेष ध्यान रखना है कि जो दोष व न्यूनतायें शेष हैं, हम उनको भी अपने जीवन से निकाल दें। जिसका संकेत वेदमन्त्र का अगला शब्द देते हुए कह रहा है –

(4) दुर्वि॒दत्रा॑ [अप] –

हे परमात्मन् एवं विद्वान् जनो ! आप हमारे अन्दर निवास करनेवाली दुष्ट-बुद्धि को हमसे दूर करो।

मनुष्य, अपने जीवन में जितने भी कार्य करता है, वह बिना बुद्धि के सहयोग के नहीं कर सकता। बुद्धि का कार्य है – किसी भी बात का निश्चय करना। जब बुद्धि का आदेश होगा, तब समस्त इन्द्रियाँ उस कार्य में संयुक्त हो जाती हैं। अब जैसी बुद्धि होगी, वैसा ही कार्य होगा।

हमारी संस्कृति में गायत्री-मन्त्र को **'महामन्त्र'** कहा गया है। ऐसा इसलिये कि इस मन्त्र में बुद्धि को शुद्ध करने की प्रार्थना की गयी है। यदि बुद्धि शुद्ध है, तो कार्य भी शुद्ध व पवित्र होंगे; यदि बुद्धि अशुद्ध है तो कार्य भी अशुद्ध व अपवित्र होंगे। यही सत्कार्य व असत्कार्य जीवात्मा को सुख-दुःख के परिणाम प्राप्त कराने पर मजबूर करते हैं। सत्कार्य का परिणाम हमेशा सुख होता है, जबकि असत्कार्य का परिणाम सदैव दुःख प्राप्त कराता है। जब हम दोनों प्रकार के कार्य और परिणाम को जानते हैं, तो फिर हम असत्कार्य क्यों करते हैं ? इसका उत्तर है – दुष्ट-बुद्धि के कारण। जब बुद्धि अपवित्र हो जाती है तो वह दुष्ट कार्यों को करने की प्रेरणा देती है।

अब मन में यह प्रश्न भी उठ सकता है कि – बुद्धि अपवित्र क्यों होती है ? तब इसका सीधा-सा उत्तर है – **कुसंस्कार** और **कुसङ्गति** के कारण। कुसंस्कारों की अपवित्रता बुद्धि पर एक आवरण उत्पन्न करती है, जिसके कारण मनुष्य दुष्ट-कर्म करने में प्रवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार कुसङ्गति के प्रभाव का प्राबल्य भी बुद्धि व विवेक पर आवरण उत्पन्न कर देता है, तब भी मनुष्य दुष्टकर्म से संयुक्त हो जाता है।

वेदमन्त्र का शब्द **'दुर्वि॒दत्रा॑ अप'** द्वारा भक्त प्रार्थना करता है – 'हे परमात्मन् वा हे विद्वानो ! मेरी दुष्ट-बुद्धि को मुझ से दूर कर दो।'

इसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि दुष्टबुद्धि दूर हो गयी, तो दुष्टकर्म नहीं होगा। जब दुष्टकर्म नहीं होगा तो फिर परिणाम दुःखरूप में नहीं मिलेगा। संसार में दुःख कोई नहीं चाहता, पर जिस मनुष्य को परमात्मा की न्याय-व्यवस्था से दुःख प्राप्त हो रहा है, वह दुःखरूपी परिणाम पर तो बार-बार विचार कर रहा है, पर परिणाम जिस मूल कर्म द्वारा उत्पन्न हो रहा है, उस मूल तक वह नहीं पहुँच रहा है। वह तो परमात्मा को दोष देते हुए यही कहता है – 'मैंने किसी का कभी बुरा नहीं किया, पर न जाने परमात्मा मुझे दुःख क्यों दे रहा है ?' इस बात को मुख से निकालते समय वह यह कभी नहीं सोचता कि – परमात्मा किसी को दुःख नहीं देता, किसी के साथ पक्षपात नहीं करता; अरे ! वह तो पक्षपातरहित न्यायकारी है, जैसा जिसने

बोया है, वैसा ही उसको दे देता है। आपने कभी विद्वानों के मुख से सुना होगा –

कोउ न काऊ सुख-दुःख कर दाता।
निज कृत कर्म भोग सबु भ्राता॥

जिसने जैसा बोया है, उसे वैसा ही फल प्राप्त हो रहा है। जब कर्म ही विपरीत किया गया, तो उसका परिणाम अच्छा कैसे होगा ? विपरीत कर्म दुष्टबुद्धि के कारण होता है।

अब प्रश्न यह है कि – **'दुष्टबुद्धि को शुद्ध कैसे किया जाय ?'** इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि – 'यदि बुद्धि शुद्ध करने की आपकी तीव्र इच्छा है तो परमात्मा की शरण में जाओ और उससे बुद्धि शुद्ध करने की प्रार्थना करो। जब आप पूर्ण श्रद्धा के साथ प्रभुचरणों में बैठने का प्रयास करेंगे तो प्रभु-प्रदत्त आत्मिकबल बुद्धि की शुद्धि में अवश्य सहायक होगा।' तभी तो महर्षि मनु ने अपने धर्मशास्त्र में लिखा है – 'जो मनुष्य प्रतिदिन एक हजार बार गायत्रीमन्त्र का जाप करता है, उसके पाप साँप की कैंचुली के समान शीघ्र छोड़ जाते हैं।' कारण यह कि – परमपिता परमात्मा स्वयं परमपवित्र है, जब आप उस परमपवित्र का सानिध्य करेंगे तो निश्चित ही पवित्रता का अवतरण आपके अन्दर भी होगा। उसके बाद आप यदि विद्वानों, महापुरुषों, साधु-सन्तों का सानिध्य कर, सद्ज्ञान प्राप्त करें, तो **'बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति'** उस सद्ज्ञान के प्रभाव से बुद्धि की दुष्टता दूर होगी। किसी विद्वान् का कथन है –

महाजनो येन संसर्गः कस्यचोन्नतिकारकः।
पद्मपत्रस्थितं वारि धत्तेमुक्ताफलश्रियम्॥

अर्थात् – महापुरुषों की सङ्गति किस मनुष्य के जीवन की उन्नति नहीं करती ? अर्थात् सबकी उन्नति करती है। जैसे वर्षा या ओस की बूँद जब कीचड़ में रहनेवाले कमल के पत्र पर स्थित हो जाती है, तो वह भी मोती के सदृश दिखाई देती है।

इससे यह निश्चित हुआ कि महापुरुषों की पवित्रता व व्यक्तित्त्व का प्रभाव सानिध्य में आनेवाले मनुष्य पर अवश्य पड़ता है। एक विद्वान् ने यहाँ तक कहा है –

सम्भाषणं दर्शनं स्पर्शः कीर्तनं स्मरणं तथा।
पावनानि किलैतानि साधूनामितिशुश्रुम॥

अर्थात् – यदि महान् पुरुषों से आपका वार्तालाप हो गया या आपने उनके उपदेश का श्रवण कर लिया, तो यह आपका सौभाग्य है। आप निश्चित ही उन सत्पुरुषों के प्रभाव से पवित्र हो जायेंगे। यदि ऐसा अवसर नहीं मिला तो उनका दर्शन, उनके चरणों का स्पर्शन, उनके गुणों का कीर्तन, उनकी महानताओं का बार-बार स्मरण, निश्चित ही आपके जीवन को पवित्रता से भर देगा।

यदि यह सौभाग्य किसी कारण से प्राप्त न हो सके, तो फिर उन महापुरुषों द्वारा लिखित सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करो। स्वाध्याय एक ऐसी संजीवनी बूटी है, जिसका प्रयोग आप कहीं भी और किसी भी समय कर सकते हैं। प्रभु-प्रार्थना का समय प्रातः-सायं निश्चित है, यदि उस काल में आपने प्रार्थना न की तो मन की वृत्तियाँ प्रार्थना में अवरोध उत्पन्न अवश्य करेंगी। विद्वानों का सानिध्य उनकी अनुमति-सहमति

और परिस्थिति पर अवलम्बित है, पर स्वाध्याय स्वयं पर अवलम्बित है। मनुष्य यदि स्वाध्याय करने की, सद्ग्रन्थों के पढ़ने की प्रवृत्ति जाग्रत कर ले, तो उससे बुद्धि-मन में पवित्रता उत्पन्न होकर, उसकी प्रवृत्ति सत्कार्य करने को प्रेरित अवश्य करेगी। तभी तो महर्षि पतञ्जलिजी ने **"स्वाध्यायाद्दिष्टदेवता सम्प्रयोगः"** कहकर स्वाध्याय को इष्ट प्राप्त करने का प्रमुख साधन माना है।

निष्कर्ष यह है कि आप स्वाध्याय करें, सत्सङ्ग करें या प्रभु-चरणों में बैठें, पर आपके द्वारा इस प्रकार का कार्य करने से आपकी बुद्धि पवित्र होगी। पवित्र बुद्धि ही पवित्र कार्य करने को प्रेरित करेगी। पवित्र कार्य सुख के परिणाम को उत्पन्न करेंगे। तभी तो वेदभगवान् कहते हैं कि - आप परमपिता परमात्मा के दरबार में या विद्वानों के सानिध्य में जाओ और उनसे प्रार्थना करो - **'दुर्विदत्रां अप'** मेरी दुष्टबुद्धि को आप अपनी कृपा से दूर कर, सद्बुद्धि बना दो, जिससे मैं सत्कार्य द्वारा जीवन में सुख प्राप्त कर सकूँ। यदि ऐसा न कर सका तो दुष्टबुद्धि मुझे पाप के गर्त में निश्चित ही गिरा देगी।

इसलिये वेदभगवान् उस बात का संकेत अगले शब्द द्वारा इस प्रकार करते हैं -

(5) अघायतः [अप] -

हे परमात्मन् वा हे विद्वानो ! आप मेरी पापमय वृत्ति को मेरे जीवन से हटा दो। मैं जिस प्रकार से हिंसित कर्मों को करने में प्रवृत्त हूँ, आप अपनी कृपा व पुरुषार्थ से मेरी पापमय वृत्तिदोष को निवृत्ति में परिवर्तित कर दो, जिससे मैं किसी प्रकार की हिंसा व अत्याचार करके पापी न बन सकूँ।

कभी आप शान्त मन से विचार करें और अपने जीवन में किये जाने वाले पापों का निरीक्षण-परीक्षण करें तो आप इस निश्चय पर पहुँचेंगे कि - मनुष्य सम्पूर्ण जीवन में जाने या अनजाने में अनेकों प्रकार के पापकर्म कर बैठता है। यह बात अलग है कि वह पापवृत्तिजन्य पाप हैं वा परिस्थिति जन्य। इसी कारण से हमने यहाँ पाप को कुछ भागों में वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है, जो निम्न है -

(1) बालवृत्तिज पाप - यह पाप वह है, जिसमें बच्चे खेल-खेल में बचपन में पाप कर बैठते हैं। जैसे - चींटा-चींटी को या किसी रेंगते कीड़े को मार देना।

(2) वीरवृत्तिज पाप - यह पाप किसी मनुष्य द्वारा तब होता है, जब वह अहङ्कार वश वीरता प्रदर्शित करना चाहता है। जैसे - किसी प्राणी का शिकार करना आदि।

(3) भीतिवृत्तिज पाप - यह पाप उस अवस्था में होता है, जब कोई हमें इतना अधिक भयभीत कर दे कि मानो हमारे सामने मृत्यु मुख खोले खड़ी हो। इसलिये दूसरे के डर से जो पाप किये जाते हैं, वे भीतिवृत्तिज पाप कहलाते हैं।

(4) नीतिवृत्तिज पाप - यह पाप साम-दाम-दण्ड-भेद की नीति के निमित्त अपने संरक्षण वा प्रजा के संरक्षण के निमित्त किये जाते हैं, वे नीतिवृत्तिज पाप कहलाते हैं।

(5) संस्कारवृत्तिज पाप - पूर्वजन्म के कुसंस्कार या वर्त्तमान की कुसङ्गति के कारण

बनने वाले कुसंस्कारों के द्वारा जो पाप किये जाते हैं, वे संस्कारवृत्तिज पाप कहलाते हैं।

(6) संस्कृतिवृत्तिज पाप – जो पाप धर्म या संस्कृति परम्परा का नाम लेकर किये जाते हैं, वे संस्कृतिवृत्तिज पाप कहलाते हैं। जैसे – काली माँ पर बकरे की बलि देना या ईद के दिन गाय-बकरी-ऊँट की कुर्बानी देना।

(7) वर्गवृत्तिज पाप – जो काम-क्रोध-लोभ-मोह के वशीभूत होकर मनुष्य कर बैठता है, वह पाप वर्गवृत्तिज पाप कहलाते हैं।

महर्षि मनुजी ने पाप को तीन भागों में विभक्त करके उसके दश उपभेद किये हैं। इसी प्रकार महर्षि वात्स्यायनजी ने भी पापों को तीन भागों में विभक्त करके उपभेद के रूप में दश प्रकार के पाप गिनाये हैं। विस्तार-भय के कारण हम यहाँ उन सब पापों की विवेचना करना उपयुक्त नहीं समझते, फिर किसी मन्त्र की व्याख्या में उन सब पापों की विवेचना आपके समक्ष प्रस्तुत करेंगे; जिससे आपको यह प्रतीत हो कि पाप का प्रभाव बुद्धि पर तथा बुद्धि का प्रभाव पापकर्म पर अवश्य पड़ता है। यदि मनुष्य पापयुक्त कर्मों को करने में निरन्तर संलग्न है, तो उस मनुष्य की पापमयी बुद्धि और अधिक पापमय कर्मों को करने की ओर प्रेरित करेगी। इसके विपरीत यदि बुद्धि पापमयी नहीं है, तो यह आपको पाप से निवृत्त भी कर सकती है। बुद्धि और कर्म – इन दोनों कार्यों में अत्यन्त सूक्ष्म भेद है। जैसी बुद्धि होगी वैसा कर्म होगा, जैसा कर्म होगा वैसी बुद्धि होगी। इसलिये कल्याण की इच्छा करनेवाले मनुष्य को चाहिये कि वह पापमयी कुसङ्गति से अपने को बचाकर महान् पुरुषों की सङ्गति में बैठे, जिससे उनकी बुद्धि हिंसा को छोड़कर अहिंसामयी बन जाय। उनकी वृत्ति दुष्ट कार्यों को छोड़, निवृत्ति मार्ग का अवलम्बन प्राप्त करते हुए सत्कार्यों को करने की ओर प्रवृत्त रहे। यही सत्कार्य सुख का परिणाम उत्पन्न करेंगे।

पर कल्याण की इच्छा करनेवाले व सत्कार्य करनेवाले मनुष्य को अपने जीवन से एक सूक्ष्म दोष और निकालना पड़ेगा, अन्यथा आपका सत्कार्य पूर्ण परिणाम को प्राप्त न करा सकेगा। वेदमन्त्र उस दोष की सूक्ष्मता का दर्शन और निवारण के लिये पुनः संकेत देता है –

(6) आ॒रे दे॑वा॒ द्वेषो॑ अ॒स्मद् यु॑योतन॒ –

हे विद्वान् देवताओ ! आप हमारे हृदय में सूक्ष्मता से चिपके हुए द्वेष-भाव को अच्छी प्रकार से दूर कर दो।

मनुष्य-जीवन में 'द्वेष' एक ऐसा दोष है, जो दिखाई नहीं देता, परन्तु बड़े-बड़े विप्लव उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। ऐतिहासिक घटना है –

महर्षि वशिष्ठ और महर्षि विश्वामित्र दो ऋषि हैं, जिनमें एक **ब्रह्मर्षि** और दूसरा **राजर्षि** है। वशिष्ठजी का जब भी विश्वामित्र से मिलन होता है, तो उनके मुख से शब्द निकलता है – 'आओ, राजर्षि। पर राजर्षि शब्द विश्वामित्र के हृदय में चुभन पैदा करता है। विश्वामित्र के मन में विचार आता है कि समाज के मनुष्य वशिष्ठ को ब्रह्मर्षि कहते हैं और मुझको राजर्षि। हो सकता है कि इस ब्रह्मर्षि शब्द के प्रयुक्त न होने में

महर्षि वशिष्ठ की कोई भूमिका हो ? यदि नहीं तो यह अपने मुख से मुझे ब्रह्मर्षि कहकर सम्बोधित क्यों नहीं करते ? जिस मार्ग का यह अनुगमन कर रहे हैं, उस मार्ग का अनुगमन जब मैं भी कर रहा हूँ, तो यह ब्रह्मर्षि क्यों और मैं राजर्षि क्यों ? सामाजिक मान्यता के अनुसार राजर्षि की अपेक्षा ब्रह्मर्षि बड़ा होता है। बस, इस एक शब्द ने विश्वामित्र के मन में उथल-पुथल मचा दी। अस्तस्तल में बैठा द्वेष, ज्वाला में परिवर्तित होने लगा। क्योंकि द्वेष की आग शारीरिक शास्त्र के अनुसार शरीर में व्याप्त होती दिखाई नहीं देती, पर मनोशास्त्रियों के अनुसार यह अन्दर विष उत्पन्न करने का कार्य अवश्य करती है। यह द्वेष, आवश्यक नहीं कि सामान्य मनुष्य में ही हो, अरे ! यह तो बड़े-बड़े प्रतिष्ठित लोगों में भी देखा जाता है।

महर्षि वशिष्ठ और विश्वामित्र कोई सामान्य मनुष्य नहीं थे, प्रतिष्ठित थे; समाज उनको पूर्ण सम्मान देता था। वह एक को ब्रह्मर्षि कहता था तो दूसरे को राजर्षि। पर विश्वामित्र के कान में जब भी राजर्षि शब्द प्रवेश कर जाता, रक्त में उबाल आ जाता और कुछ कर गुज़रने के विचार में मन तन्मय हो जाता। कारण कि - द्वेष ऐसा रोग है, जो अन्तस्तल में चिपटा रहता है। इसे हटाना आसान नहीं है। घर में रखी हुई वस्तु को आप पृथक् कर सकते हैं, पर जो चिपकी हुई है, यदि आपको उसे हटाने के लिए कहा जाय तो बड़ी मुश्किल खड़ी हो जायेगी। मशक्कत करनी पड़ेगी, पहले छुड़ाओ फिर हटाओ। देखने में यह दोष साधारण-सा दिखाई पड़ता है, पर जब हटाने का प्रयास किया जाता है, समस्या तब खड़ी होती है। क्योंकि पहले छुड़ाओ, बाद में हटाओ। हो सकता है कि जो चिपकी हुई वस्तु है, वह पूरी तरह छूट पाये या न छूटे। यदि उसमें किञ्चित् चिपका हुआ भाग शेष रह गया तो वह कभी भी अनुकूल वातावरण को प्राप्त कर, फिर वृद्धि को प्राप्त हो जाय। इसीलिये मन्त्र के इस पद में **'आरे'** और **'युयोतन'** दो क्रियाओं का प्रयोग किया गया है। **'आरे'** शब्द **'अ'** उपसर्ग के साथ **'रिच् विरेचने'** धातु का प्रयोग करके, अच्छी प्रकार रिक्त करने के अर्थ में है, तो **'युयोतन'** क्रिया का प्रयोग दूर फैंकने या बलात् हटाने के अर्थ में है।

सम्भव है कि द्वेष की चिपकन के कारण ही मन्त्र में दो क्रियाओं का प्रयोग किया गया हो। पहले जिस-जिस स्थान पर द्वेष चिपका हो, उस स्थान को प्रथम रिक्त करो, पश्चात् उसको इतना दूर फैंक दो कि वह लौटकर कभी न आ सके। पर यह कार्य अल्प-सोच व अल्प-श्रम से नहीं होगा, इसके लिये बहुत परिश्रम करना पड़ेगा। उसका प्रमुख कारण यह है कि जब जीवात्मा के स्वभाव में द्वेष विद्यमान है, जैसाकि दर्शन शास्त्रों द्वारा वर्णित किया गया, तो प्रथम उस स्वभाव को बदलना असम्भव है, पर यदि कोई इसे बदलने का दुस्साहस भी करे, तो उसमें नैरन्तर्य पुरुषार्थ और नैरन्तर्य सजगता का होना परमावश्यक है। जैसे - जल का स्वभाव शीतलता है। यदि आपने आग पर रखकर उसके स्वभाव शैत्य को उष्णता में परिवर्तित करना चाहा, तो आपके लिये यह भी परमावश्यक है कि उस उष्णता को सदा रखने के

लिये निरन्तर अग्नि का सानिध्य उसे दिया जाय; अन्यथा वह पुनः शैत्यभाव को प्राप्त हो जायेगा। इसी प्रकार जीवात्मा के द्वेषरूपी शैत्य को समाप्त करने के लिये नैरन्तर्य तप-साधना एवं भक्ति का होना परम आवश्यक है। इसके अभाव में द्वेष को समाप्त करना असम्भव होगा।

विश्वामित्र ऋषि केवल इस बात से द्वेष की आग में झुलस रहे हैं कि वशिष्ठ मुझे ब्रह्मर्षि क्यों नहीं कहते ? अब बात तो ब्रह्मर्षि के हृदय की भावना की है। वह क्यों ब्रह्मर्षि शब्द अपनी वाणी से उच्चरित नहीं करते और इसका कोई कारण भी प्रकट नहीं करते ? पर इतना अवश्य है कि जब सामाजिक मान्यता में ब्रह्मर्षि और राजर्षि-भाव में भेद है तो कहीं न कहीं महर्षि वशिष्ठ के मन में भी यह भाव छिपा होगा कि यदि विश्वामित्र का यह दोष समाप्त हो जाये, तो यह मेरे समान ब्रह्मर्षि हो सकता है।

पर वशिष्ठ कहते नहीं और विश्वामित्र इसका कारण पूछते नहीं। विश्वामित्र को राजर्षि शब्द से चिढ़ है। परिणाम द्वेष की अग्नि विश्वामित्र के अन्तस्तल में जब ज्वाला की भाँति ऊँची लपटों के रूप में उठने लगी, तो विश्वामित्र ने अपने हाथ में चाकू लिया और यह संकल्प लेकर अपने आश्रम से निकल पड़े कि आज मैं वशिष्ठ को मृत्यु-मुख में अवश्य ही पहुँचा दूँगा। जब यह न होगा तो फिर जनसामान्य मुझे ब्रह्मर्षि के रूप में सहजता से स्वीकार कर ही लेगा।

याद रखो, द्वेष की ज्वाला जब प्रकट होती है तो वह क्रोध और हिंसा का सहारा लेकर दूसरे का अस्तित्व पूर्णरूप से मिटाने के लिए तत्पर हो जाती है। आज विश्वामित्र की भी यही स्थिति है। हाथ में चाकू, हृदय में मृत्यु-मुख में पहुँचाने का भाव तथा मन का निश्चित संकल्प। पर यह कार्य विश्वामित्र जैसे ऋषि के लिये करना सहज भी नहीं था। इसलिये विश्वामित्र ने अन्धेरे का सहारा लिया और वह प्रातः होने से पूर्व अन्धकारयुक्त रात्रि के अन्तिम प्रहर में महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में पहुँचकर, आश्रम के एक वृक्ष पर चढ़कर पत्तों के झुरमुट में इस प्रकार से छिप गये कि किसी भी आश्रमवासी ब्रह्मचारी को इसकी भनक तक न लगी। विश्वामित्र अवसर की तलाश में पत्तों के झुरमुट में छिपे बैठे थे।

प्रातः का भोर हुआ। महर्षि वशिष्ठ जागे, नैत्यिक कार्य से निवृत्त होकर आश्रमस्थ ब्रह्मचारियों को प्रतिदिन की भाँति उपदेश देने लगे। विश्वामित्र पत्तों के झुरमुट में बैठकर यह सब दृश्य देख व सुन रहे थे और अवसर की तलाश में थे। उधर महर्षि वशिष्ठ अपने ब्रह्मचारियों को उपदेश के मध्य प्रसंगवशात् ऋषि विश्वामित्र की चर्चा करते हुए उनके गुणों की प्रशंसा करने लगे। विश्वामित्र ने जब अपनी प्रशंसा अपने कानों से सुनीं तो उन्हें आश्चर्य हुआ कि जिसको वह अपना शत्रु समझ रहे हैं, वह तो उनका बहुत बड़ा प्रशंसक है। वह अपने गुणों से अधिक विश्वामित्र के गुणों का वर्णन आश्रमस्थ ब्रह्मचारियों के समक्ष कर रहा है। बस, फिर क्या था, विश्वामित्र को अपनी भूल का अहसास हुआ और उनकी आँखों से पश्चात्ताप के आँसू बहने लगे। पश्चात्ताप के

आँसुओं ने विश्वामित्र के अन्तस्तल में छिपी द्वेष की आग को शान्त कर दिया। विश्वामित्र क्षमा माँगने हेतु जैसे ही वृक्ष से उतरे, हाथ का चाकू एक ओर फैंका और पश्चात्ताप करते हुए जैसे ही महर्षि वशिष्ठ के चरणस्पर्श करने के भाव से उनके समक्ष पहुँचे, तो अनायास ही महर्षि वशिष्ठ के मुख से निकल पड़ा - **'आओ, ब्रह्मर्षि।'** विश्वामित्र के अन्तस्तल में छिपी द्वेषाग्नि को पश्चात्ताप के आँसुओं ने बुझाया ही नहीं, मानो उस मालिन्य को पूर्णतः हटाकर स्वच्छ और पवित्र कर दिया हो। उसी पवित्रता, स्वच्छता का प्रभाव था कि - जिस शब्द सुनने की वह लालसा हृदय में वर्षों से संजोये हुए थे, वह **'ब्रह्मर्षि'** शब्द उपाधि के रूप में उन्हें सहज ही प्राप्त हो गया।

मनुष्य-जीवन में द्वेष का दोष इतना अधिक भयानक है कि वह क्रोध, हिंसा, अत्याचार, अनाचार व पापयुक्त कर्म करने को बाधित करता है। उसका उपाय यही है कि - पहले अपने द्वेषरूपी रोग का निरीक्षण किया जाय, उसे छोड़ने के लिये संकल्पवान् होकर महान् पुरुषों की शरण में बैठकर प्रार्थना की जाय -

विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत्॥

(ऋ0 4/1/4)

हे देवो ! मेरे जीवन को सभी द्वेष भावों के पाश से मुक्त कर दो।

यूयं द्वेषांसि सनुतर्युयोत॥

(ऋ0 2/29/2)

आप हमारे द्वेषभावों को, हमारे जीवन से पूर्णतः पृथक् कर दो।

यदि ऐसा दुस्साध्य कार्य करने में हम सफल हो सके तो फिर कोई ऐसी स्थिति नहीं, जो हमें कल्याणपथ पर चलने से रोक सके। इसीलिये वेदमन्त्र का अन्तिम पद कह रहा है -

(7) उरु नः शर्म यच्छता स्वस्तये -

यदि महान् कल्याण को प्राप्त करने की इच्छा है, तो परमात्मा व विद्वानों की शरण में जाकर समस्त शारीरिक रोगों का निवारण कर, यज्ञ न करने की भावना, दान न देने की भावना, दुष्टकार्य करने में प्रवृत्त होने वाली तथा पापकर्म में प्रयुक्त होने वाली प्रवृत्ति तथा द्वेषभाव को हृदय मन्दिर में मालिन्य उत्पन्न करनेवाले संस्कारों का मर्दन करो; निश्चित ही कल्याण पथ पर बढ़ते हुए लक्ष्य प्राप्त करने में समर्थ हो सकोगे। इसीलिये वेदभगवान् बुराईयों का उपक्षय कर, सन्मार्ग पर चलनेवाले लोगों का उत्साह-वर्द्धन करते हुए कहते हैं -

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसश्च केतून्। एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृतां कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि॥ (अथ0 10/1/32)

अर्थात् - जिस प्रकार सूर्य, अपने प्रकाश से सम्पूर्ण लोक-लोकान्तरों को अन्धकार से विमुक्तकर, प्रकाशयुक्त कर देता है, जिस प्रकार उषाकाल का उदय रात्रि के अन्धकार को हटाकर सुनहले प्रकाश से चमका देता है, उसी प्रकार मैं भी समस्त हिंसित कर्म और बुराईयों को उसी प्रकार छोड़ देता हूँ, जिस प्रकार हाथी धूल को उड़ाकर फैंकता हुआ अपने मार्ग पर निःसंकोच आगे बढ़ता जाता है। ❑

मनुष्यता का प्रथम सोपान

तारा शर्मा
प्रधान - धर्म संवर्द्धिनी सभा, दिल्ली

हम सबने अपने जीवनकाल में एक चौपाई पढ़ी वा सुनी होगी - **'बड़े भाग्य मानुष तक पावा, सुर दुर्लभ सद्ग्रन्थन गावा'** अर्थात् - यह मनुष्य जीवन बड़े सौभाग्य से प्राप्त हुआ है, इसकी महिमा सभी विद्वानों द्वारा तथा सभी ग्रन्थों में गायी गई है।

बात सत्य भी है कि संसार के समस्त प्राणियों में मनुष्य जीवन अतिश्रेष्ठ है, क्योंकि जो कार्य इस जीवन में किया जा सकता है, वह किसी अन्य जीवन में सम्भव नहीं। परन्तु जब हम समस्त मनुष्य-समाज पर दृष्टि डालते हैं और उसमें व्याप्त, वैमनस्य, हिंसा, अत्याचार, अनाचार, मारकाट, झगड़े आदि अराजकता की स्थिति को अनुभव करते हैं, तब क्या हमें इस बात पर विचार नहीं करना चाहिये कि - मनुष्य-जीवन श्रेष्ठ कर्मों का परिणाम है भी या नहीं। यदि है, तो क्यों है ? आज जिस प्रकार का कृत्य मनुष्य कर रहा है, और अहङ्कारवश अपने को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास कर रहा है, तो क्या यह उसके **'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः'** वाली बात न मानी जाय ? क्या हमने एकान्त में बैठकर कभी विचार किया कि - हम मनुष्य कहलाने के अधिकारी हैं भी या नहीं ? यदि होते तो फिर वेदभगवान् को **'मनुर्भव'** हे मनुष्य ! तू मनुष्य बन, ऐसा कहने की क्या आवश्यकता थी। इसका अभिप्राय यह है कि - केवल मनुष्य-जन्म पा लेने से ही हम मनुष्य नहीं हैं, अपितु मनुष्यत्त्व के गुण धारण करने के बाद ही हम मनुष्य कहला सकते हैं। ये ठीक है कि संसार के समस्त जीवनों में मनुष्य जीवन अतिश्रेष्ठ है, क्योंकि इस जीवन में मनुष्य जहाँ पूर्वकृत कर्मों का फल सुख-दुःख के रूप में भोगता है, वहाँ वह कर्म करने की स्वतन्त्रता, कर्म करने के इन्द्रिय-मन-बुद्धि आदि साधन तथा नये कर्म करने की क्षमता द्वारा वह वृत्ति-प्रवृत्ति में सुधार कर सकता है। पर यह सुधार तभी हो सकता है जब उसका कुछ पूर्वजन्म का सुसंस्कार और वर्तमान के परिश्रम का संयोग हो, अन्यथा यदि पूर्वजन्म की वृत्ति के अनुसार ही कर्म करने में लगा रहा तो फिर इस जन्म पाने का कोई विशेष लाभ नहीं।

आपने यह अनुभव अवश्य किया होगा कि - संसार में जितने भी मनुष्यधारी प्राणी हैं, उनमें अपवाद में छोड़कर शायद ही ऐसा कोई मनुष्य होगा, जिसने मनुष्यता व जीवन की श्रेष्ठता पर विचार किया हो। उनका मात्र उद्देश्य है - खाना-पीना और मौज उड़ाना। यदि इतना ही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य होता तो फिर यह काम हम अन्य जीवनों में भी कर सकते थे, फिर मनुष्य जन्म प्राप्त करने की हमें क्या अवश्यकता

थी ? क्या पशु-पक्षी-कीट-पतङ्गादि प्राणी खाते-पीते, मौज मनाते नहीं हैं ? अरे ! ये गुण तो सभी प्राणियों में स्वाभाविक है। तभी तो महर्षि चाणक्य ने कहा है -

आहार निद्रा भय मैथुनञ्च,
सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणाम्॥

अर्थात् - खाना-पीना, सोना-डरना और सन्तान पैदा करना - ये कार्य सभी प्राणी कर लेते हैं। यदि हमारा लक्ष्य यहीं तक सीमित है तो फिर हमने मनुष्य जन्म क्यों प्राप्त किया, यह प्रश्न हमारे सामने क्यों नहीं लगना चाहिये ? यदि यह प्रश्न हमारे अस्तित्त्व पर प्रश्नचिह्न खड़ा कर रहा है, तो हमें इस बात का चिन्तन भी करना चाहिये कि - 'हम मनुष्य क्यों हैं ? हमारे जन्म प्राप्त करने का क्या प्रयोजन है ? जब परमात्मा ने हमें स्वाभाविक बुद्धि के साथ नैमित्तिक बुद्धि से युक्त करके हमें इस संसार में भेजा है, तो क्या केवल मौज़ उड़ाने के लिये अथवा किसी और उद्देश्य के लिये ?' जब तक हम और आप इन प्रश्नों को अपने जीवन में नहीं उठायेंगे, तब तक मनुष्यता का ज्ञान हम कभी नहीं कर सकते।

यदि आप चाहते हैं कि इन प्रश्नों का समाधान हो, तो इसके समाधान के लिए आपको इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं, बस महर्षि चाणक्य द्वारा लिखे श्लोक की अगली पंक्तियों को पढ़कर उसका अनुसरण कर लो, निश्चित ही आप मनुष्यता के सोपान पर कदम रखने में सक्षम होंगे। वह है -

धर्मोहितेषां अधिको विशेषो,
धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः॥

अर्थात् - मनुष्य जीवन की श्रेष्ठता तभी है, जब आपका प्रत्येक कार्य धर्मयुक्त बन जाये।

अब प्रश्न होता है कि - 'धर्म क्या है ?' उसका संक्षिप्त उत्तर है - 'जिसको आप स्वयं धारण करते हैं।' प्रश्न है - 'आप स्वयं क्या धारण करते हैं ?' तो उसका उत्तर है - 'जो भी आपको श्रेष्ठ लगता है, आप स्वयं उसे धारण करते हैं।' यदि आपका उत्तर उचित है, तो फिर आप यह भी जान लीजिये कि - 'आप जिसको स्वयं में धारण करना चाहते हैं, जब वह आप दूसरों के लिए भी सोचने लगेंगे या उसको धारण कराने का प्रयत्न करेंगे, तो वह कार्य ही धर्म है और यही मनुष्य की मनुष्यता है।'

इस कार्य में आपका व्यय कुछ न होगा, सिर्फ दृष्टिकोण व सोच को बदलने की आवश्यकता है। आप शास्त्रों का ज्ञान अर्जित करें या न करें, पर यदि आपने इस महासूत्र को पकड़ लिया तो फिर समझ लीजिये कि आप धर्म के मार्ग पर चल पड़े; यदि नहीं, तो फिर इस मनुष्य जीवन का कोई लाभ नहीं।

इसलिये मेरा निवेदन यही है कि यदि आप अपने जीवन में सम्मान चाहते हैं तो आप दूसरों का भी सम्मान करना सीखें। यदि आप चाहते हैं कि कोई मेरी प्रशंसा करे, कोई मुझे किसी भी प्रकार का दुःख न दे, तो आपका भी कर्त्तव्य है कि आप दूसरों की प्रशंसा करें और किसी को भी मन-वचन व कर्म से कभी दुःख न दें। यदि आपने ऐसा अभ्यास कर लिया, तो फिर आप समझ लीजिये कि आपने मनुष्यता के प्रथम सोपान पर अपना कदम रख दिया। ❐

मानव-विकास की वैदिक पद्धति

स्वामी वेदानन्द सरस्वती
रोपड़ (पञ्जाब)

असंख्य प्राणी शस्य की भाँति उत्पन्न होते, कुछ दिन जीते और अन्त में मर जाते हैं। कुछ प्राणी शीघ्र मर जाते हैं, कुछ-कुछ देर तक जीते हैं। जीवन के लिये सभी संघर्षरत हैं, ज़िन्दा रहने के लिए दौड़-धूप सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। अल्पकालीन जीवन में भी सुख-प्राप्ति की लालसा तथा उसकी पूत्यर्थ सतत् प्रयास हो रहा है। मरकर प्रकृति में विलीन होता हुआ भी पुनः जी उठता है। अतः बलवान भी इतना है कि सदा के लिये नहीं विनष्ट होता, अवसर मिलते ही प्रकट हो जाता है। मनुष्य जीवन भी अन्य प्राणियों की भाँति इसी चक्र में फंसा हुआ है। यह चक्र-क्रम निरन्तर चलता रहेगा, जब तक इसे विकास का मार्ग दिखाई न पड़े। वस्तुतः जीवन का यह ह्रास-विलय तथा पुनः प्राकट्य का अजस्रचक्र विकास-पद्धति की खोज में ही चल रहा है। इसी चक्र में योग और भोग के अनुकूल कर्म संघति चल रही है। जब भोग के स्थान पर तपश्चर्या को यह अङ्गीकार करता है, तभी विकास का प्रारम्भ होता है। द्वन्द्व-सहन के साथ संयम का नाम तपश्चर्या है। दूसरे शब्दों में तपश्चर्या, समस्त प्रतिकूल परिस्थितियों में सम्पूर्ण गतिरोधों तथा आपदाओं एवं आघातों को अविचल भाव से साहसपूर्वक सहन करते हुए, बाह्य भोगों से विरत होकर जीवन को विकास के लिये न केवल अनुकूल अवसर प्रदान करने, अपितु धैर्य एवं उत्साह से समुचित प्रयास करने के उपक्रम का नाम है। इसी हेतु वेद कहता है -

यो अ॒ग्नि त॒न्वो॑३ दमे॑ दे॒वं मर्त्तः॑ सप॒र्यति॑।
तस्मा॒ इद्दी॑दय॒द् वसुः॑ ॥

(ऋ0 8/44/15)

जो मानव शरीर के दमन द्वारा परमगति, परमज्ञान, परमप्रकाशरूप देव की पूजा करता है, उसके लिये वसु बालक तत्त्व, धन-ऐश्वर्य चमक उठता है।

प॒वित्रं ते॒ वित॑तं ब्रह्मणस्पते प्र॒भु-
र्गात्रा॑णि॒ पर्येषि॒ वि॒श्वतः॑। अत॑प्ततनू॒न
तदा॒मो अ॑श्नुते श्रु॒तास॒ इद्बृह॑न्त॒स्तत्समा॑शत् ॥

(ऋ0 9/83/1)

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वामी प्रभु की पवित्रकारिणी शक्ति सब ओर से फैली हुई है। जो हमारे शरीरों को सब ओर से परिव्याप्त किये हुए है। पवित्रता की इस अग्नि में जो अपने को पका नहीं लेता, कच्चा ही बना रहता है, वह उस प्रभु को प्राप्त नहीं होता। जो तपश्चर्या की भट्टी में पड़कर पक जाता है, वही कर्त्तव्य वहन करता हुआ उस प्रभु को प्राप्त करता है।

धर्मानुष्ठानं तपः ॥ (महर्षि दयानन्द)

न तपः प्राणायामात् परः ॥

(यो0द0 2/52 व्यासभाष्य)

द्वन्द्वं सहनं तपः ॥ (यो0द0 2/32 व्यासभाष्य)

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञान-दीप्तिरा विवेकख्यातेः ॥

(योगदर्शन 2/28)

धर्मयुक्त कर्मों का अनुष्ठान तप है ॥

प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है ॥

द्वन्द्वों को सहन करना तप है ॥

योग के अङ्गों के अनुष्ठान से निरन्तर अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है, जब तक विवेकख्याति अर्थात् प्रकृति पुरुष का विवेक होकर मुक्ति प्राप्त न हो।

योग के अङ्ग आठ हैं - 1. यम, 2. नियम. 3. आसन. 4. प्राणायाम, 5. प्रत्याहार, 6. धारणा, 7. ध्यान, और 8. समाधि। यद्यपि योग ही आठ अङ्गों के अनुष्ठान से शारीरिक, वाचिक, एवं मानसिक तीनों ही प्रकार ही तपश्चर्या होती है। तथापि प्राणायाम का अपना विशेष महत्त्व है। स्थूल शरीर को सूक्ष्मशरीर से मिलाने वाला प्राण है। मृत्यु के समय सूक्ष्मशरीर के साथ प्राण स्थूलशरीर को छोड़कर बाहर निकल जाता है। मृत शव मात्र स्थूलशरीर को जला दिया जाता है।

प्राण का कार्य दस प्रकार का है, पर इनमें से पांच प्रकार का कार्य तो अधिक ही महत्त्वपूर्ण है। इन पाँचों में भी दो तो सर्वाधिक श्रेष्ठ हैं। वे हैं - **प्राण** और **अपान**। सम्पूर्ण जगत् का प्राण सूर्य है। जब सूर्य अपनी सहस्त्रधा किरणों के साथ उदय होता है, तो सम्पूर्ण जगत् का एक-एक कण, एक-एक पदार्थ प्रकाशित एवं अनुप्राणित हो उठता है। हमारे शरीरों में दिन-रात के चौबीस घण्टों में 21600 बार श्वासों का प्रवेश और निष्क्रमण होता है। बाहर से भीतर जानेवाला श्वॉस अन्दर शक्ति का संचार करता है; भीतर से बाहर आनेवाला श्वॉस अपने साथ भीतर का मल लाकर शरीर से बाहर फैंक देता है। अतः जीवनप्रदात्री प्रथम श्वास को प्राण एवं मलापहिरिणी दूसरी श्वास को अपान कहते हैं। इन्हीं को अथर्ववेद में दो अश्विनीकुमार देवों के वैद्य अथवा दूत कहा है -

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः ॥
आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे ॥

(ऋ0 10/137/2-3)

दो वायु चल रही हैं - एक बाहर के सिन्धु से अन्दर के सिन्धु तक, और दूसरी अन्दर के सिन्धु से बाहर के सिन्धु तक। अन्दर का सिन्धु **'हृदय'** है, बाहर का सिन्धु **'अन्तरिक्ष'**। एक प्राणान् जीवन लाता है, दूसरा दोषायनपन करता है। दोनों ही रूपों में प्राण औषध का कार्य करता है।

इस वेदमन्त्र में प्राण को देवों का दूत कहा है। जैसे अग्नि में तपाने से धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही प्राणनिग्रह से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं। प्राण का तप, प्राण के वश करने में है। जिस प्राण के वश में सम्पूर्ण जगत् है, उसे वश में कर लेना मानो सम्पूर्ण जगत् को वश में कर लेना है। योगाभ्यासी प्राणायाम के अभ्यास से आन्तरिक अष्टचक्रों का उद्घाटन करके दिव्य-ज्योति के दर्शन करते हैं -

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥

(योगदर्शन 2/52)

दोष के दूर होने पर इन्द्रियों की संज्ञा ऋषि हो जाती है। विकासक्रम से ये ही इन्द्रियां ऋषित्व से आगे चलकर देवत्त्व की संज्ञा प्राप्त कर लेती हैं। इन्द्रियाँ दस हैं – पाँच कर्म की और पांच ज्ञान की। ये बाह्य इन्द्रियाँ हैं। तथा **मन, बुद्धि, चित्त** और **अहङ्कार** – ये चार अन्तःकरण हैं। कभी–कभी इन चारों को मन ही कह देते हैं, तब कुल मिलाकर ग्यारह होती हैं। संयमशील आत्मा की इन्द्रियों के दोष अर्थात् चञ्चलता, स्वच्छन्दता और उच्छृंखलता नष्ट होकर उनका बल बढ़ने से उनमें दीप्ति एवं शोभा आ जाती है, तथा जिस मधु के साथ आत्मा जुड़ी रहती है, उनका भी वे पान करने लगती हैं। इन्द्रियों की ग्राह्यशक्ति व्यापक हो जाती है। चक्षु सुदूर देशस्थ पदार्थों को भी देखने लगते हैं। श्रोत्र दूरस्थ शब्दों का भी श्रवण करने लग जाते हैं। मन अत्यन्त सूक्ष्म विषयों को ग्रहण करने लगते हैं। इन्द्रियों की इन दिव्य शक्तियों का चमत्कार संयमी योगियों के ही अनुभव का विषय है।

संयत इन्द्रियाँ आत्मा के अनुकूल चलती हैं, तो आत्मा का स्वराज्य एवं स्वातन्त्र्य सिद्ध हो गया। यही तो जीवनयात्रा का अभीष्ट गन्तव्य है। इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये ही तो हम सबका पुरुषार्थ है। मन सब इन्द्रियों में प्रमुख है। मन ही के माध्यम से आत्मा सब इन्द्रियों द्वारा बाह्य व्यापारों को करता है। पर मन में दैवी तथा आसुरी दोनों सम्पदाएं भरी पड़ी हैं। एक के अपनाने से हमारा विकास होता है, तथा दूसरी को अपनाने से ह्रास। आसुरी से दबकर हम स्वयं मरते हैं तथा दूसरी को भी मारते हैं। दैवी संरक्षण में हम सभी सुखी होते हैं। इसलिये वेद में मन को दैवी बनाने की अनेक मन्त्रों में प्रेरणा है।

मन को दैवी बनाने के लिये हमारे अन्दर शिवसंकल्प, तीव्र लगन, अटूट श्रद्धा एवं सतत् जागरूकता होनी चाहिए। संकल्प का बाह्यबिन्दु है – **'श्रवण'**। मन दिव्य उपदेश को सुने, सदा देवों का सङ्ग करे, दिव्यभावों के चिन्तन में रमण करे – तो दैवी भाव उत्पन्न हो जायेगा। तदुपरान्त दूसरा बिन्दु है– **'मनन'** जो आन्तरिक है। मनन द्वारा श्रवण की हुई सामग्री हमारी अपनी बन जाया करती है। उससे भी आगे आन्तरिक बिन्दु है – **'निदिध्यासन'**। जो अटूट एकतानतायुक्त ध्यान की विशेष अवस्था है। इसी अवस्था में प्रज्ञा का प्रकाश होता है। श्रवण से **पाण्डित्य**, मनन से **मुनित्त्व**, निदिध्यासन से **ऋषित्त्व** तथा प्रज्ञा को प्राप्त हो, तदनन्तर **देवत्त्व** को प्राप्त होता है। मन को दैवी बनाने के लिए वेद की प्रेरणा सुनो –

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥

(अथर्व0 1/1/2)

हे निखिल वाङ्मय के स्वामी प्रभो ! आपकी कृपा से सुना हुआ मेरे भीतर ही बस जाय। हे वासक शक्तियों के अधिपति प्रभो ! आप मेरे अन्दर ही मन के साथ रमण करो, जिससे मेरा मन दैवी, अर्थात् दिव्य शक्तियों से युक्त हो जाय।

सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन। मा घोषा उत् स्थुः बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तादन्द्रस्य अहनि आगते॥

(अथर्व0 7/52/2)

हम सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर,उस मन से भलीभाँति विचार करें। दैवी मन से कभी पृथक् न हों। इसकी पहचान का लक्षण होगा कि कभी विपत्ति के समय हम हा-हाकार न कर उठें और सम्पत्ति में इन्द्र का वज्र हमारे ऊपर न गिरे अर्थात् सुख के दिनों में हम आपे से बाहर न हो जायें।

"मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्॥"

(ऋ0 10/53/6)

मननशील मनुष्य मनु बन जाये जो दैव्य जन की प्रसूति भी सम्भव हो जायेगी। दैवी स्थिति की उत्पत्ति मननशीलता के उपरान्त ही सम्भव है।

अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः। अग्निमीधे विवस्वभिः॥

(ऋ0 8/102/22)

मन से अग्नि को प्रज्वलित करता हुआ मनुष्य धी अर्थात् श्रेष्ठ बुद्धि को प्राप्त होता है। अतः मनन, विचार की अग्नि को हम प्रज्वलित अवश्य करें।

मननशील आचारवान् साधक निरन्तर प्राणायामादि योगाभ्यास के साबुन से मन एवं इन्द्रियों के दोष दूर करके जो बुद्धि प्राप्त करता है, वह सात प्रकार की होती है -

1. धी, 2. कुधी, 3. मेधा, 4. प्रज्ञा, 5. ऋतम्भरा, 7. उमा।

धी में ज्ञान और कर्म का समन्वय है। दोनों संयुक्त हो जाते हैं। महात्माओं का भी लक्षण यही है कि जो उनके मन में है, वही उनकी वाणी में, वही कुछ उनके आचरण में होता है। **"मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्"** इसी धी की ही प्रार्थना गायत्री-मन्त्र में की गई है, जो हमें असत्य से सत्य, तम से प्रकाश, और मृत्यु से अमरता की ओर ले जाती है। यह यज्ञिय है। जो देवताओं की सदा सङ्गिनी है, याजक इसकी पूजा करते हैं। उनकी यह इस प्रकार रक्षा करती है, जैसे जौ के खेत में चरकर आयी हुई गाय सहस्रधार दुग्ध देकर हमें तृप्त कर देती है।

आ वो धियं यज्ञियां वर्त ऊतये देवीं देवां यजतां यज्ञियामिह। सा नो दुहीयत् यवसेव गत्वी सहस्रधारा पयसा मही गौः॥

(ऋ0 10/101/9)

किन्तु यह यज्ञिय धी यदि आसुरीभाव से अभिभूत हो जाय, तो यही पापी अथवा कुधी हो जाती है। यज्ञिय धी से हमारा विकास होगा और पापी धी से ह्रास। **धी** सदा सन्मार्ग में ही स्थिर रहे - इसके लिये **स्वाध्याय, सत्सङ्ग** एवं **योगाभ्यास** की निरन्तर आवश्यकता है। इस **धी** को योगाभ्यास के साबुन से जरा और चमकाया जाय, जिससे हमारे बाह्य और आन्तरिक क्षेत्र में दिव्यता दृष्टिगोचर होने लगे। हमारी इस दिव्यता पर दानवता का आक्रमण न हो सके, दिव्यता सुरक्षित रहे। इसके लिये **धी** से भी उठकर **मेधा** के क्षेत्र में पहुँचने का प्रयास करें। वेद के शब्दों में -

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु॥

(यजु0 32/14)

देव, पितर, जिस मेधा की उपासना करते हैं, जिससे उनके ज्ञान, ध्यान, यज्ञ, याग, तप, त्याग, कर्म और धर्म पूर्ण होते हैं। भगवन्! उस मेधा से युक्त कर, मुझे आज मेधावी बना दो। और भी कहा है –

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतां ऋषिष्टुताम्। प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानां अवसे हुवे॥

(अथर्व0 6/108/2)

मैं उस मेधा को पुकारता हूँ, चाहता हूँ, जो श्रेष्ठ ब्रह्मण्वती, वेदवती, ज्ञानवती ब्राह्मणों द्वारा सेवित, ऋषियों द्वारा प्रशंसित और ब्रह्मचारियों द्वारा प्रपीत है। जो मेरे दैवी अङ्गों को सुरक्षा का कवच पहना दे।

मेधा के संरक्षण में पतन के अवसर प्रायः समाप्त हो जाते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह के स्थूल स्वरूप नष्ट हो जाते हैं, पुनरपि सूक्ष्मरूप से तो बने ही रहते हैं। अतः इतनी साधना करने पर भी साधक सन्तोष न करे। योगसाधना का क्रम निरन्तर चालू रखते हुए इस मेधा को भी और अधिक निर्मल करना अपेक्षित है। तदनन्दतर प्रातिभ नाम की बुद्धि उपलब्ध होगी। प्रातिभ-बुद्धि से सम्पन्न साधक की गति बिना यन्त्र के अति दूरस्थ प्रदेशों के पदार्थों और घटनाओं का आभास कराने में सक्षम होती हैं आदित्य के समान यह सब कुछ प्रकाशित कर देती है, इसका चमत्कार अद्भुत है।

"प्रतिभाद्वा सर्वम्॥"

(योग0 3/33)

प्रातिभ ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर योगी सब कुछ जानता है। वेद में स्पष्ट कहा है –

उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह। द्विषन्तं मह्यं रन्धयन्मो अहं द्विषते रधम्॥

(अथर्व0 17/1/24, ऋ0 1/50/13)

प्रज्ञानरूप आदित्य अपने सम्पूर्ण तेज के साथ उदय हो गया है। इसने मेरे शत्रु (राग-द्वेषादि) को समाप्त कर दिया। अब मैं इसके वशीभूत नहीं हो सकता।

मानव-विकास की यात्रा यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। इस प्रातिभ को भी कुछ और परिशोधित किया जाय, तो यही प्रज्ञा का रूप धारण कर लेती है। प्रज्ञा के आलोक में प्रातिभ-ज्ञान अब प्रकृष्ट रूप में आलोकित हो उठता है। पतन के अवसर अब सर्वथा समाप्त हो जाने पर अनुभूमि में पवित्रात्मा योगी प्रसन्नता से झूम उठता है और गर्वोक्ति करता है –

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्। किं नूनमस्मान् कृण्वदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य॥

(ऋ0 8/48/3)

मैंने सोम का पान कर लिया है। अब मैं अमर हो गया हूँ। ज्योति मेरे सामने है। देव मेरी सन्निधि में है। अब शत्रु मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं? मरणधर्मा मनुष्यों के द्वन्द्व, छल-कपट-धूर्तता अब मैंने कुचल दिये हैं।

साधक को अब प्रज्ञा के मिलते ही सबसे बड़ी सिद्धि प्राप्त हो गई। उसे सोपान, अमरत्त्व,

ज्योति, देव – सभी कुछ तो मिल गया। अब और क्या चाहिये? शत्रु कोई शेष नहीं रहा, मनुष्यों की धूर्तता उस पर कुण्ठित हो गई। कैसी श्रेष्ठ और उच्च अवस्था है। पर क्या इन शब्दों में अहङ्कार नहीं बोल रहा ?

अहङ्कार की गाँठ जबतक बंधी हुई है, तब तक प्रकृति से पल्ला कैसे छूटेगा ? यह अहङ्कार साधक को फिर धर पटकेगा। महर्षि पतञ्जलि ने **अस्मिता** अहङ्कार की क्लेशों में गणना की है। चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध द्रष्टा के स्वरूप अवस्थान में माना है। अहङ्कार के शमन का एकमात्र उपाय है – प्रभुभक्ति। यदि योगाभ्यासी साधक अब ईश्वर के साथ अपने को एक कर दे, तो प्रकृति से तत्काल सङ्ग छूट जाय। वेद कहता है –

त्वयेदिन्द्र युजा वयं प्रति ब्रुवीमहि स्पृधः।
त्वमस्माकं तव स्मसि ॥

(ऋ0 8/92/32)

हे प्रभो ! आपसे संयुक्त होकर ही हम अहङ्कार की स्पर्धाओं पर विजय पा सकते हैं। वस्तुतः प्रकृति माया, अविद्या मेरी नहीं है और न ही मैं इसका हूँ। मैं तो आपका हूँ और आप मेरे हो। यही सम्बन्ध यथार्थ है, अन्य सब सम्बन्ध व्यर्थ हैं। इस प्रकार एकीभाव होते ही तत्काल ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रकट हो जाती है। **"ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा"** (योगदर्शन 1/48) वेदमन्त्र भी तो ऐसा ही कथन करता है –

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥

(ऋ0 1/150/20)

हे अज्ञान, अन्धकार प्रकृति से भी ऊपर ज्ञानप्रकाश आनन्दस्वरूप परमेश्वर ! अब हम आपके स्वरूप को स्पष्ट देख रहे हैं। अब हमारे और आपके बीच के सब पर्दे हट गये हैं। आपको पाकर अब मैं कृतकृत्य हो गया हूँ।

इसी ऋतम्भरा-प्रज्ञा के कुछ और अन्य परिशोधित रूप को केनोपनिषद् में उमा-स्त्री कहा गया है –

सः तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमों। हैमवतीं ताꣳहो वाच किमेतद्यक्षमिति ॥ (केन0 25/12)

योगदर्शन के भाष्य (1/47) में व्यासजी ने इस प्रज्ञा की महिमा को एक श्लोक प्रस्तुत करके इस प्रकार दर्शाया है –

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥

विकास के इस क्रम में प्रज्ञा-प्रासाद को प्राप्त होकर शोचनीय विषयों से रहित हुआ योगी शोचते हुए जनों को ऐसे देखता है, जैसे पर्वत पर स्थित हुआ पुरुष नीचे भूमि पर होनेवालों को देखता है। कैसी उच्च अवस्था है यह ?

अन्ततः अपने गन्तव्य लक्ष्य पर पहुंचकर साधक वेद के शब्दों में ही कहता है –

यो भूतानामधिपतिर्यस्मिँल्लोकाऽ-
अधिश्रिताः। यऽईशे महतो महाँस्तेन
गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम् ॥

(यजु0 20/32)

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥

(ऋ0 8/44/23)

हे प्रभो ! समस्त लोक आपके आश्रित हैं। सब प्राणियों के हव्यमात्र आप ही पालक हो। महत्तत्व से भी ऊपर आप शासक हो। आपके इस महान् रक्षकस्वरूप को मैं अपने आत्मा में बसाता हूँ। अब या तो मैं आपके स्वरूप में समा जाऊँ या आप मेरा रूप धारण कर लो। यह सहस्थिति एकत्व में परिणित हो जाय। आपका आशीर्वाद यहाँ सत्य हो।

जब मैं था तब तू नहीं, जब तू है मैं नाय।
प्रेमगली अति सांकरी, जामें दो न समाय॥

एक जान होके चलते हैं, मैं तू को छोड़कर।
उल्फत की तंग राह में, दो की गुज़र नहीं॥

विकास के इस क्रम में आवरणों (संस्कारों) से **मुक्ति, स्वरूपावस्थान** तथा **अमृत-भोग** - तीन पृथक्-पृथक् स्थितियाँ हैं, जो क्रमशः **प्रज्ञा-ऋतम्भरा** एवं **उमा** द्वारा प्राप्त होती हैं। एक के पश्चात दूसरी स्थिति आती है, परन्तु एक की उपलब्धि का अर्थ दूसरे की उपलब्धि नहीं है। आन्तर्य अपरिहार्य है। अन्तिम स्थिति के उपरान्त कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता। अमृत का उपभोग अमृत बनाता ही है।

यत्रा॑न॒न्दाश्च॒ मोदा॑श्च॒ मुद॑ः प्र॒मुद॒ आस॑ते। काम॑स्य॒ यत्रा॒प्ताः काम॒ास्तत्र॒ माम॒मृतं कृ॒धीन्द्रा॑येन्दो॒ परि॑ स्रव॥

(ऋ0 9/113/11)

आर्य वैदिक संस्कृति में मानव-विकास की यही चरम सीमा है। एकत्व अभेद अखण्ड, अदिति की अनुभूति !! ॥

वही तो आर्य होता है ?

कवि जगदीश साधक

सदा जो ईश-गुण गाये, वही तो आर्य होता है।
स्वयं वरदान हो जाये, वही तो आर्य होता है॥

मशालें वेद की लेकर, अन्धेरा जो जला डाले।
उठे तो दिन निकल आये, वही तो आर्य होता है॥
सदा जो ईश गुण गाये.... ॥1॥

जरा-सी मूर्त्ति में निस्सीम, ईश्वर क़ैद क्यों होगा।
समझ ले और समझाये, वही तो आर्य होता है॥
सदा जो ईश गुण गाये.... ॥2॥

कभी पत्थर न पिघलेंगे, हमारे धूप-चन्दन से।
न इनको भोग लगवाये, वही तो आर्य होता है॥
सदा जो ईश गुण गाये.... ॥3॥

किसी भी देव-देवी की, दया पर जो न जीता है।
स्वयं में आस्था लाये, वही तो आर्य होता है॥
सदा जो ईश गुण गाये.... ॥4॥

जो वैदिकधर्म के पथ पर, लिये हो कारवां संग-संग।
अकेला ही न बढ़ जाये, वही तो आर्य होता है॥
सदा जो ईश गुण गाये.... ॥5॥

पहनकर केसरी बाना, डटे जो ओम् के ध्वज-सा।
अखिल सौन्दर्य-सा भाये, वही तो आर्य होता है॥
सदा जो ईश गुण गाये.... ॥6॥

बढ़े जो ज्ञान-गङ्गा सा, गुणों को अंकुरित करता।
मरुस्थल सींचता जाये, वही तो आर्य होता है॥
सदा जो ईश गुण गाये.... ॥7॥

वसन्तों का वही स्वामी, दया आनन्द का मधुवन।
धरा पर फूल बरसाये, वही तो आर्य होता है॥
सदा जो ईश गुण गाये.... ॥8॥

चले जो साधना-पथ पर, निरन्तर मौन साधक बन।
न जिसको जग भुला पाये, वही तो आर्य होता है॥
सदा जो ईश गुण गाये.... ॥9॥

एक बलिदानी नारी - कैकेयी

राजाराम मिश्र
हरिगढ़, (उत्तर प्रदेश)

भारत की महानतम नारियों में कैकेयी का नाम सर्वोपरि है। भगवान् करे कि भारत की प्रत्येक नारी कैकेयी जैसी हो जाय, जिससे मेरे देश भारत का कल्याण हो जाय।

याद कीजिये महाराज दशरथ की रानियों में केवल कैकेयी ही राजनीति का ज्ञान रखती थी। राजनीति के साथ-साथ युद्धकौशल, रथ-संचालन आदि सभी कलाओं में भी पारङ्गत थी। कैकेयी की इस विशेषता के कारण युद्ध में महाराज दशरथ के प्राण बचे थे, तब दशरथ ने उन्हें दो वरदान माँगने को कहा था। उन्हीं वरदानों को चतुर एवं राजनीतिज्ञ कैकेयी ने समय पर उपयोग करने के लिये सुरक्षित रखा था। आज लाखों महिलायें व पुरुष कैकेयी को गाली देते हैं। विवाहोत्सव इत्यादि में भी गीत गाया जाता है - **"बुरो जो कैकेयी ने किया, चरत भरत कू राज, राम कू वनवास दियो"**। वह माँ जिसे एक पल भी राम को देखे वग़ैर चैन नहीं पड़ता था, जिसकी आँखों के आगे ही सदैव राम रहते हों, जिसके आँगन में ही राम हरसमय खेलते हों, राम सबके प्यारे होने के बावजूद केवल उसी के पास ही भागते थे। वह माँ अपने नयनों के तारे राम को कभी वन भेज सकती थी ? नहीं, कभी नहीं। फिर ऐसा कौन-सा कारण था कि जिसके कारण एक माँ ने अपने बेटे को वन जाने की आज्ञा दी। देश भर की घटनाओं की जानकारी रखती थी कैकेयी। नित्य समाचार मिलते थे कि राक्षस संस्कृति के पोषक रावण ने विभिन्न क्षेत्रों में अपनी चौकियाँ स्थापित कर ली हैं। सम्पूर्ण देश में उसके सैनिकों ने खर, दूषण, ताड़का, सुबाहु, मारीच, सूर्पनखा इत्यादि के नेतृत्व में हमारे गिरि-जङ्गलों में रहनेवाले आदिवासी-वनवासी-भील आदि बन्धुओं की कोमल ललनाओं का अपहरण, किसी भी सुन्दर महिला को देखकर उसका शील भङ्ग करना, बलात्कार, अनाचार, हत्या, लूटपाट, धार्मिक अनुष्ठानों में तोड़-फोड़, विघ्न डालना, यज्ञों को अपवित्र करना आरम्भ कर दिया था। यह उनकी रोजाना की कार्य-प्रणाली हो गई थी। इन समाचारों से कैकेयी को काफी दुःख होता था। कैकेयी बड़ी बारीक़ी से इन समाचारों पर विचार कर रही थी। उसने राम के कुछ गुणों पर राम के बचपन से ही ध्यान दिया था। जैसे - शस्त्र-संचालन, सङ्गठन करने की क्षमता, दूसरों को अपना बनाना इत्यादि। तभी देश के कुछ मनीषियों (ऋषियों) ने इस बढ़ती हुई राक्षस-प्रवृत्ति से भारतीय संस्कृति की रक्षा करने के लिये मन्त्रणा की और उस मन्त्रणा में कैकेयी को भी शामिल किया गया और उन्हें बताया गया कि राम में वह सारे गुण मौजूद हैं जो एक अच्छे नेता, सेनानायक व राजा में होने चाहिये; केवल उन गुणों के

विकास की आवश्यकता है। संस्कृति और देश की रक्षा के लिये आपको या हमको कुछ भी खोना पड़े, उसे हम सहर्ष स्वीकार करेंगे। यह तभी हो सकता है, जब देश के जन-जन में सङ्गठन की भावना बने, चाहे वह ग्राम वा नगर में रहनेवाला हो, चाहे घोर जङ्गल में रहनेवाला निपट गंवार आदिवासी वनवासी, तभी इस देश की रक्षा हो पायेगी। कैकेयी ने ऋषियों को आश्वासन दिया कि - मैं इस कार्य में पूर्ण सहयोग दूँगी, चाहे उसे कितना भी कष्ट क्यों न सहना पड़े।

उसी मन्त्रणा के आधार पर विश्वामित्र राम को माँगने दशरथ के पास आये और उन्हें ले जाकर सभी आधुनिक यन्त्रों, ज्ञान-विज्ञान, अत्याधुनिक शस्त्रों के संचालन की शिक्षा दी और उसी समय परीक्षा के रूप में ताड़का, सुबाहु का वध तथा मारीच को बिना फल के बाण द्वारा सौ योजन दूर फैंककर, दूर-मारक-यन्त्रों का राम द्वारा संचालन किया गया। राम को युद्ध के लिये पूर्णरूप से तैयार किया जा चुका था, तभी महाराज दशरथ ने राम के राजतिलक को घोषणा कर दी, कैकेयी भी राम के प्यार में अपना दिया हुआ वचन भूल गयी थी। यह समाचार जब ऋषियों ने सुना जो कैकेयी को याद दिलाने के लिये उन्होंने कैकेयी की निजी दासी मन्थरा का सहारा लिया। जब मन्थरा ने राम के राजतिलक की बात बताकर उसे उसका वचन याद दिलाने की कोशिश की; परन्तु कैकेयी ने मन्थरा की पूरी बात सुने बग़ैर ही केवल राम के राजतिलक की बात सुनकर ही अपने सबसे कीमती हार को मन्थरा के गले में डाल दिया, परन्तु मन्थरा ने जब कैकेयी को समझाया कि तुमने इस देश और समाज-हित को भुला दिया है। तुमने वचन दिया था कि समय आने पर सभी प्रकार के कष्ट सहने को तैयार हूँ। अब वह समय आ गया है, यदि कल राम का राजतिलक हो गया तो तुम्हारी योजना का क्या होगा, जिसमें तुमने समस्त देश की जनता को सङ्गठित करके राक्षस-प्रवृत्ति को समूल नष्ट करने को कसम खाई थी, आज तो तुम राम के तिलक का समाचार सुनकर खुश हो। परन्तु कल क्या होगा इसके बारे में भी तुमने कुछ सोचा है ? तभी भारत की उस महान् नारी का नारीत्त्व जाग उठा। उस शेरनी को अपने कर्त्तव्य का बोध हुआ और तभी उसके मुख से निकला कि - चाहे सारी दुनिया मुझे ज़िन्दगीभर गाली दे, कुछ भी हो, परन्तु अब मैं अपने राम को इस देश और संस्कृति की रक्षा के लिये भेजकर ही रहूँगी। चाहे मुझ पर कितनी ही विपदा आवे, चाहे साक्षात् काल ही सामने क्यों न आ जावे, परन्तु इस समय राक्षस-संस्कृति को अब मिटाना ही होगा; राम को जाना ही होगा। राम अब जवान हो गया है, अब राम को मेरे प्यार की नहीं, बल्कि देश-धर्म और संस्कृति के प्यार की आवश्यकता है। और कैकेयी के उस ऐतिहासिक त्याग और बलिदान की वह घड़ी आ पहुँची, जब महाराज दशरथ एक तरह से अपने प्राणों की भीख माँग रहे थे। परन्तु कैकेयी को अपनी माँग का सिन्दूर तथा महाराज दशरथ के प्राण भी अपने महान् लक्ष्य के आगे बहुत बौने दिखाई पड़े। अन्त में कर्त्तव्य की जीत हुई, राम

को वन जाना पड़ा। क्या आज कलियुग में भी कोई नारी अथवा वैधव्य स्वीकार कर सकती है ? नहीं, कभी नहीं। तो फिर त्रेता की उस महान् नारी से हम यह आशा कैसे कर सकते हैं कि केवल अपने बेटे के लिये राज्य माँगकर अपनी हरी-भरी बगिया में आग लगा लेगी, राज्य के बदले वैधव्य स्वीकार कर लेगी ?

हमारे पूर्वजों ने इस देश के लिये बड़े-से बड़े बलिदान दिये हैं, उसी कड़ी में कैकेयी ने भी अपने व्यक्तिगत जीवन की सुख-सुविधाओं को त्यागकर अपना सर्वस्व लुटाकर संस्कृति की रक्षा हेतु राम को वन भेजा। यदि ऐसा न होता तो क्या भरत-मिलाप के समय कैकेयी उस राम का सामना कर सकती थी, जिसकी झोली में आती हुई समस्त खुशियों को रोककर उसने देश-निकाला दिया था। गुरु विश्वामित्र, राम को भी पूर्ण योजना समझा चुके थे, उन्हें कर्त्तव्य-बोध करा चुके थे। अपने-अपने कर्त्तव्य का माँ और बेटे, दोनों को ध्यान था, परन्तु कहीं राम, भरत के प्रेम में अपने कर्त्तव्य को भूल न जाये। यदि भरत, राम को लौटाने में सफल हो गया तो मेरा सारा बलिदान व्यर्थ हो जायेगा, मेरा वैधव्य बेकार जायेगा ? इसलिये कैकेयी भी भरत के साथ गयी और राम को उनके कर्त्तव्य की ओर ध्यान बनाये रखने का प्रयास किया। यदि कैकेयी ने अपने स्वार्थ के लिये राम को वन भेजा होता तो क्या वह राम को अपना मुँह दिखा सकती थी ? कभी नहीं। लेकिन वहाँ तो लक्ष्य ही दूसरा था। पञ्चवटी में राम ने सबसे पहले कैकेयी की चरण-वन्दना की, और सिद्ध कर दिया कि कैकेयी ने जो किया है, वह उचित है। ऐसी थी **कैकेयी** जिसने अपना सर्वस्व लुटा दिया, इस माँ भारती के चरणों में।

क्या आज पुनः वही परिस्थितियाँ नहीं हैं ? क्या आज हमारे ऊपर विदेशी संस्कृतियों का आक्रमण नहीं हो रहा ? क्या आज भी जङ्गलों में रहनेवाले आदिवासियों, वनवासियों का शोषण नहीं हो रहा ? क्या आज आतंकवाद का नंगा नाच नहीं हो रहा ? क्या अनाचार, अत्याचार, बलात्कार नहीं हो रहे ? क्या लूट-पाट, चोरी-डकैती का बाजार गर्म नहीं है ? क्या है कोई माँ, जो आज कैकेयी बनकर अपनी सुख-सुविधाओं पर लात मारकर अपने बेटों को इन अत्याचारों से लड़ने के लिये भेज सके, तब ही कोई नारी सच्ची माँ हो सकती है, तभी वह कैकेयी के बलिदान को पहचान सकती है। ❐

* कर्मवीर *

आज जो करना है, कर देते हैं उसको आज ही।
सोचते-कहते हैं जो कुछ, कर दिखाते हैं वही॥
मानते अपनी ही हैं, सुनते सदा सबकी कही।
जो मदद करते हैं अपनी इस जगत् में आप ही॥
भूलकर वे दूसरों का मुँह कभी तकते नहीं।
कौन ऐसा काम है जिसको कि कर सकते नहीं॥
चिलचिलाती धूप को जो चाँदनी देते बना।
काम पड़ने पर करें वे शेर का भी सामना॥
हँसते-हँसते वे चबा लेते हैं लोहे का चना।
'है कठिन कुछ भी नहीं' जिनके है जी में यह ठना॥
कोस कितने ही चलें पर वे कभी थकते नहीं।
कौन-सी है गाँठ जिसको खोल वे सकते नहीं॥

मातृवत् परदारेषु

दुर्गाशङ्कर त्रिवेदी
कोटा (राजस्थान)

गहन कालिमा बढ़ती जा रही है। भगवान् भास्कर शनैः-शनैः अस्ताचल की गोद में विश्राम लेने हेतु सभा से जा चुके हैं। पक्षियों का कलरव धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। वसन्त का शीतल मन्द सुगन्ध वायु वातावरण को पुलकित कर रहा है।

राजर्षि द्रोणाचार्य एक प्रस्तर शिला पर ध्यान-मग्न बैठे थे। आश्रम के एक छोर पर राजकुमार धनुर्विद्या का अभ्यास कर रहे थे। एकाएक गुरुदेव के शब्दों ने आश्रम की शान्ति को भङ्ग किया। तेजस्वी स्वर गूँज उठा - 'राजकुमारो ! जाओ, सन्ध्या-वन्दन का समय हो गया है। अभ्यास बन्द करके शीघ्र ही नित्यकर्म करो।'

और हाथ के तीरों ने तरकसों की शरण ली। सब राजकुमार अपनी-अपनी कुटिया की ओर उन्मुख हो गए। गुरुवर भी उठ खड़े हुए। दो कदम बढ़ाये तो समीप ही अर्जुन खड़े नज़र आये। 'तुम नहीं गये वत्स ?' गुरुदेव ने रुकते-रुकते पूछा। 'हाँ गुरुदेव ! मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ।' अर्जुन ने अपने शब्दों में विनय लाने का प्रयत्न करते हुए हाथ जोड़कर कहा। 'हाँ-हाँ, वत्स ! निस्संकोच होकर पूछो' - कहते हुए गुरुदेव दो कदम पीछे हटे और उसी शिलाखण्ड पर जा विराजे।

अर्जुन बढ़े और बोले - 'गुरुदेव, प्रातःकाल आपने समस्त राजकुमार विद्यार्थियों से कहा था कि आज धनुर्विद्या सीखने का अन्तिम दिन है। जितनी शिक्षा आप इस विषय की दे सकते थे, वह हमें दे चुके हैं। कल सब अपने-अपने घर जा सकते हैं। लेकिन गुरुदेव ! मैं इससे भी अधिक कुछ सीखना चाहता हूँ। बतलाइये, मैं क्या करूँ ?'

'प्रिय वत्स ! तुम्हारी ज्ञान-पिपासा की मैं मुक्त-कण्ठ से सराहना करता हूँ। इस संसार में इतना ज्ञान और इतनी विद्याएं हैं कि उनका कोई पार नहीं पा सकता है। फिर भी धनुर्विद्या में, मैं जितना ज्ञान रखता था, तुम्हें दे चुका हूँ। सचमुच ही तुम उस ज्ञान के पूर्ण अधिकारी पात्र भी हो। वत्स ! आगे इस विद्या को सीखना हो, तो तुम्हें देवराज इन्द्र को अपना गुरु वरण करना होगा। क्योंकि वे ही शस्त्रविद्या के प्रकाण्ड पण्डित हैं। किन्तु वत्स, यह सपने में भी मत भूलना कि देवराज से शिक्षा ग्रहण करना, उनका शिष्यत्व स्वीकार करना सहज साध्य नहीं है। काँटों से भरा ताज़ है। वहाँ शिष्यत्व से पूर्व तुम्हें कितनी ही कठिन परीक्षाओं को उत्तीर्ण करना होगा और उन सब परीक्षाओं में कठिन होगी संयम व ब्रह्मचर्य की परीक्षा, जहाँ पग-पग पर फिसलने का डर बना रहता है।' गुरुदेव ने अर्जुन को समझाते हुए कहा।

अर्जुन के मुख पर देदीप्यमान चमक आ गई। दृढ़ता के भाव उनके चेहरे पर छिटक गये। उनकी भृकुटियाँ तन गईं। कुछ क्षण वे विचार करते रहे। फिर धीरे से बोले – 'गुरुदेव ! यदि आप आज्ञा दें, तो मैं देवराज के पास जाकर शस्त्रविद्या सीख लूँ। आपका आशीर्वाद साथ है, तो निश्चित रूप से मैं एक नहीं सैकड़ों परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर योग्य शिष्य होने का गौरव प्राप्त कर लूँगा।'

वत्स ! मेरा आशीर्वाद सदैव तुम्हारे साथ है। जाओ, अपने राष्ट्र, अपनी संस्कृति और अपने पूर्वजों का मान बढ़ाओ। जाओ, तुम सदा विजय-श्री का वरण करोगे।' कहते-कहते गुरुदेव के कदम अपनी पर्णकुटी की ओर बढ़ गये, जहाँ सन्ध्या-वन्दन की सामग्री उनकी बाट जोह रही थी।

× × ×

इन्द्रपुरी का भव्य सभा-भवन। देवराज इन्द्र सिंहासन पर आसीन हैं। उनके समीप ही देवगण, यक्ष, किन्नर और भूलोक के कई सम्मान्य अतिथिगण भी उपस्थित हैं। सभा के वातावरण में पर्याप्त कुतूहल है। सभी ओर से एक ही फुसफुसाहट हो रही है – 'अब समय आ पहुँचा है, परीक्षा का। देखें, कौन इस परीक्षा में विजयी होकर देवराज इन्द्र के शिष्यत्व का पात्र बनता है। सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर बनने का अधिकारी कौन होता है ?'

और प्रसन्नमुख देवराज का आदेश प्राप्त करते ही नृत्यायोजन का श्रीगणेश हुआ। यक्ष, किन्नर और गन्धर्वगण सब के सब अपने-अपने वाद्ययन्त्रों में तन्मय हो गए। अप्सराएं नृत्य करने लगीं। वातावरण, एक अजीब प्रकार की मादकता से भर गया। सभा का चप्पा-चप्पा मादक हो उठा। वातावरण में मानो सम्मोहन छा गया। सुध-बुध बिसर गये। सभासद देखकर मन ही मन मुस्करा रहे थे। एकाएक उनकी नज़र अर्जुन पर जा पड़ी। वे नीची आँखें किये विचार मग्न बैठे थे। उन पर मानो इस मादकता का कोई असर ही नहीं था। लगता था, अर्जुन इन्द्रसभा में नहीं बैठा है, किसी निर्जन अरण्य में बैठा हुआ है। वे बारम्बार भूमि पर दृष्टि गड़ाकर उंगली से उसे कुरेद रहे थे।

एक अप्सरा आती, अपना नृत्य कौशल दिखलाती और वापस चल देती। इसी प्रकार चलता रहा और सभासद् उसी मस्ती में अपने आपको सराबोर किये रहे। .... और तभी एकाएक देवराज की आज्ञा हुई – 'उर्वशी को बुलाया जाये।'

देखते ही देखते स्वर्ग की सुन्दरी सभागृह के मंच पर आई। देवराज को प्रणाम कर नृत्य में लीन हो गई। अनेक ऋषि-मुनियों और त्यागी तपस्वियों का तप भङ्ग करने का उसे गर्व था, जो बारम्बार उसके चेहरे से छलक-छलक पड़ता था। वह नाचती रही, थिरकती रही, उसका अङ्ग-अङ्ग गतिमान् हो उठा। सभा में जादू-सा छा गया। दर्शकगण संज्ञाशून्य से हो गये। देवराज ने फिर अर्जुन की ओर मुँह फेरा। वे तो अभी तक उसी प्रकार बैठे थे, मौन निर्विकार। देवराज ने मन ही मन कहा – 'क्या अर्जुन पर इस मायाजाल का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा।' नृत्य चलता

रहा, लेकिन अर्जुन जल में कमलवत् बैठे ही रहे। बारम्बार वे उंगलियों से भूमि कुरेदते रहे।

अचानक न मालूम उन्हें क्या सूझा और उनके नेत्र उठ गये। मुख ऊपर उठते ही आँखें उर्वशी की आँखों से जा टकराईं। फिर झुक गईं। अर्जुन ने देखा नृत्य-विरत उर्वशी बारम्बार अपलक उसे निहार रही है। उस विमुग्धकारी दृष्टि की कामना मात्र से ही अर्जुन का शीश अमित श्रद्धा से झुक गया। नेत्र अधमुंदे से हो गए। उधर उर्वशी ने मन ही मन सोचा, मेरा तीर ठीक निशाने पर बैठ गया प्रतीत होता है।

झन-झन-झन करती पायलें रुक गईं। वाद्ययन्त्र सहसा बन्द हो गये। सब एकदम चौंक से पड़े, मानो गहन निद्रा से किसी ने उन्हें जगा दिया हो। देवराज इन्द्र स्वयं बड़ी देर तक विचार करते रहे। आख़िर इस परीक्षा में किसकी विजय हुई - सौन्दर्य की या संयम की। काफी देर तक वे विचार-मग्न रहे। पर कोई निर्णय नहीं लगा पाये वे। अन्ततोगत्वा सभा विसर्जित हुई और देवराज इन्द्र संयम की जय और सौन्दर्य की विजय के ऊहापोह में विचार-मग्न हो उठ खड़े हुए।

नीरव रात्रि का द्वितीय प्रहर था। अर्जुन अपने शयनकक्ष में न मालूम किस व्यग्रता में बिस्तर पर करवटें बदल रहे थे। इतने में ही कक्ष के मुख्य द्वार पर थपथपाहट हुई। अर्जुन शय्या से उठ खड़े हुए और बोले - 'कौन' ?

'मैं' - एक क्षीण, किन्तु मृदु मोहक ध्वनि कक्ष के बाह्य भाग में गूँज उठी। अर्जुन समझ गए कि यह देवी उर्वशी ही है, परन्तु मन का कुतूहल छिपाते हुए बोले - 'देवी उर्वशी ?'

'हां, वीरवर; उर्वशी ! द्वार तो खोलो ज़रा जल्दी से।'

'गहन तिमिराच्छादित नीरव रात्रि में देवी का इस अकिञ्चन के द्वार पर कष्ट करने का हेतु ?'

'प्रथम द्वार तो खोलो वीरवर। इतने निष्ठुर होकर प्रश्नावलियों की झड़ी मत लगाने लगो, वीरवर !'।

ये शब्द कानों में पड़ते ही अर्जुन के मन में संशय की एक लकीर खिच गई। मुख पर गम्भीरतापूर्ण कठोरता छा गई, उसने तत्क्षण ही द्वार खोल दिया। उर्वशी ने अन्दर आते ही कहा -

'वीरवर ! मैं तुम्हें अपना हृदय देने आई हूँ। इस नीरव किन्तु सरस रजनी में। तुम भी शायद असहमत नहीं हो, क्योंकि इसकी साक्षी तुम्हारे प्रेम-विह्वल नेत्रों ने मुझे नृत्य-प्रांगण में ही दे दी थी।'

'मैं क्या सुन रहा हूँ यह ? देवी ! यह तुम्हारी भूल है, मैंने नृत्य के समय देखा अवश्य था। लेकिन देवी, यदि तुम अपने हृदय में पवित्रता लिये होतीं, तो अवश्य ही मेरे मन की शुद्धता एवं पवित्रता को भी देख पातीं।'

'परन्तु वीरवर ! मेरी आँखें धोखा नहीं खा सकती हैं। मैंने तुम्हारे इन नेत्रों में प्रेम का अदम्य सागर लहराते देखा था, वीरवर ! उस समय।'

'देवी ! तुम पुनः ग़लती पर हो। वह प्रेम न होकर श्रद्धा और सहानुभति के भाव थे, देवी। तुम्हारी उत्कृष्ट कला की खूब-प्रशंसा सुनी थी, अतः कला के पुजारी के नाते केवल श्रद्धा-भक्ति से तुम में कला की देवी के दर्शन किये थे। तुम्हें ज्ञात है, देवी ! उस समय मैं क्या सोच रहा था,

शायद नहीं। तो सुन लो, कान लगाकर सुन लो, देवी ! आज तक मैं यही मानता आ रहा था कि मेरी माता ही संसार में सर्वाधिक सुन्दर नारी रही है। परन्तु देवी ! मैंने सोचा, कि काश ! मैं तुम्हारी कोख से जन्म लेता, तो और भी अधिक सुन्दर होता, और अनायास ही विश्ववन्द्य सुन्दरी माता उर्वशी का पुत्र कहलाने का अधिकारी .. ।'

खड़ी-खड़ी उर्वशी सुन रही थी, अपने अतुल सौन्दर्य की प्रशंसा, पर अन्त के वाक्यों को सुनते ही मानो वह सातवें आसमान से गिर पड़ी हो। उसका हृदय वेदना और प्रायश्चित्त की अग्नि में जल उठा। किंकर्त्तव्यविमूढ़ सी खड़ी वह अर्जुन को अब एक नयी ही दृष्टि से अपलक निहारती रही।

सहसा उसे कुछ ध्यान आया और उसके कदम धीरे-धीरे अर्जुन के शयन-कक्ष से दूर हटते ही गये। उसके कानों में अर्जुन के होठों से निसृत एक ध्वनि गूँज रही थी -

"मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत् ॥"

❐

* वेदव्यास-उवाच *

कामाऽर्थी लिप्समानस्तु धर्ममेवादितश्चरेत्।
न हि धर्मादपैत्यर्थः कामो वाऽपि कदाचन॥

(म0उ0 124/37)

जो मनुष्य कामनाओं की पूर्ति के लिये धन-प्राप्ति का इच्छुक है, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह धर्म का आचरण करे। क्योंकि अर्थ और काम कभी धर्म से पृथक् नहीं होते। धर्म का परित्याग करके प्रथम तो अर्थ और काम प्राप्त ही नहीं होते, यदि प्राप्त हो भी जायें तो वे स्वयं नश्वर होते हुए प्राप्त करने वाले मनुष्य का भी सर्वनाश कर देते हैं। ❐

स्वर्णिम युग निर्माण करें हम

आचार्य रामकिशोर

आज समय आ गया सजग हो, स्वर्णिम-युग निर्माण करें हम।
भौतिक चकाचौंध में चंचल, इस युग का निर्माण करें हम॥

इस भौतिकता की दल-दल में फंसकर विकल हुआ है मानव।
मानव की आकृति में तो प्रतिदिन बढ़ते जाते दानव।
भोगों की बढ़ती प्रवृत्ति का हेतुभूल अज्ञान हरें हम॥
आज समय ... ॥1॥

इस भयानक-तम प्रवृत्ति से पूँजीवाद बढ़ा करता है।
शोषण-द्वेष-स्वार्थ-अघ-हत्या गिरि पर पुरुष चढ़ा करता है।
ऊपर से नीचे गिरने के फल का भी अनुमान करें हम॥
आज समय ... ॥2॥

पश्चिम की सभ्यता यहाँ पर, लेकर आई है ये दुर्गुण।
राष्ट्रभक्ति, सभ्यता, संस्कृति, सबसे विमुख हुआ है जनगण।
इस घातक दूषित प्रवृत्ति से प्रिय स्वदेश का त्राण करें हम॥
आज समय ... ॥3॥

परहित का उद्देश्य बताकर किया जा रहा है यहाँ पर छल।
फिर स्वदेश खण्डित करने को आज हो रहे सक्रिय अरिदल।
इस दुष्ट षडयन्त्र पाश का, यथा शीघ्र अवसान करें हम॥
आज समय ... ॥4॥

जिसके द्वारा सकल विश्व के गुरु बनने का अवसर पाया।
जिसकी शिक्षा के प्रताप से सफल हुई नहीं हम पर माया।
उस ईश्वरीय-कृपा से अधिगत ज्ञानराशि का ध्यान करें हम॥
आज समय ... ॥5॥

सदा रहा सृष्टि के समय से जगतीभर पर अपना शासन।
पाँच हजार वर्ष पहले तक सभी मानते थे अनुशासन।
इस गौरवमय धर्म-ज्ञान का, फिर से हम सम्मान करें हम॥
आज समय ... ॥6॥

प्राणिमात्र के हित साधन की जिससे विकसित करे भावना।
कभी पनपने ही नहिं पावे मन में जिससे कुटिल कामना।
उस अपनी वैदिक संस्कृति की फिर से सब पहचान करें हम॥
आज समय ... ॥7॥

योग व योगा - समालोचनात्मक विवेचन

आचार्य सुधाकर
नारायण विहार, नई दिल्ली

प्राचीनकाल से हम सब यह सुनते व पढ़ते आये हैं कि मनुष्य-जीवन पुण्यकर्मों के परिणामस्वरूप प्रभु की कृपा से प्राप्त होता है। संसार के समस्त प्राणियों की शारीरिक संरचना और उनकी कार्यक्षमता का अवलोकन कर यदि कोई मनुष्य-जीवन से तुलना करने का प्रयत्न करे, तो यह निश्चित है कि मनुष्य-जीवन से श्रेष्ठ और कुछ नहीं। मनुष्य जिस प्रकार से बोल सकता है, विचारों की अभिव्यक्ति कर सकता है, संवाद-प्रतिवाद कर सकता है, ऐसा संसार का अन्य कोई प्राणी नहीं कर सकता। मनुष्य जिस प्रकार से हँस सकता है, ऐसा संसार का कोई प्राणी नहीं कर सकता। मनुष्य जिस प्रकार की बौद्धिक-क्षमता के कार्य कर सकता है, ऐसा कार्य अन्य कोई प्राणी नहीं कर सकता। निष्कर्ष के आधार पर यह कहा जा सकता है कि - **मनुष्य-जीवन से श्रेष्ठ संसार में अन्य कोई जीवन नहीं।**

अब प्रश्न होता है कि - **"प्रभु-कृपा से हमें मनुष्य-जीवन क्यों प्राप्त हुआ ?"** जब आप इस प्रश्न का समाधान करने का प्रयत्न करेंगे तो आपको स्वाध्याय-सत्सङ्ग तथा विद्वानों के सदुपदेश से उत्पन्न विवेक द्वारा यह उत्तर अवश्य प्राप्त होगा कि- **मनुष्य जन्म मनुष्यत्त्व से देवत्त्व-ऋषित्त्व तक की यात्रा करने के साथ-साथ मुमुक्षत्त्व को प्राप्त किया जाय, इस पुण्यकार्य के लिए मिला है।**

मनुष्यत्त्व, देवत्त्व, ऋषित्त्व और **मुमुक्षत्त्व** - ये शब्द इतने सरल-सहज व गम्भीर हैं कि इन शब्दों में सम्पूर्ण मनुष्य-जीवन प्राप्त करने का उद्देश्य व लक्ष्य हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है। ये वह सोपान हैं जिन पर क्रमशः चढ़कर मनुष्य अपने लक्ष्य को सुगमता से प्राप्त कर सकता है। पर इन सोपानों पर कदम रखना तभी सम्भव है, जबकि आप मनुष्य-जीवन प्राप्त कर, मनुष्यत्त्व का जीवन में संवर्द्धन कर सकें। यदि मनुष्य-जीवन प्राप्त करने के बाद भी हमारे जीवन में मनुष्यता किञ्चित् भी उत्पन्न न हुई तो फिर हमारे मनुष्य-जीवन को प्राप्त करने का कोई लाभ नहीं। मनुष्यत्त्व के अभाव में यदि शारीरिक दृष्टि को आधार बनाकर भी मनुष्य और अन्य प्राणियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, तो जो परिणाम हमें प्राप्त होंगे, वह स्वयं को भी चौंकानेवाले होंगे। भेड़-बकरी, ऊँट आदि पशुओं की त्वचा का ढोल, नगाड़े, तबले आदि वाद्ययंत्रों में प्रयुक्त होना, सूअर के बालों के अच्छे ब्रुश बनाना, गाय-भेंसादि से दुग्धादि पदार्थों को प्राप्त करना, हिरण की नाभि द्वारा कस्तूरी जैसे अनमोल पदार्थ को प्राप्त करना आदि ऐसे उदाहरण हैं कि हम और आप उन

प्राणियों की तुलना में अपने को कहीं खड़ा नहीं पायेंगे। गाय-भेंस के गोबर से ग्रामीण महिलायें चौका लगाकर घर को पवित्र करने का कार्य करती हैं, पर क्या मनुष्य के मल-मूत्र की उपयोगिता शुद्धिकरण के लिए की जा सकती है? इस प्रकार मनुष्य के प्रत्येक शारीरिक अङ्ग का विश्लेषण करते चले जायें तो शारीरिक दृष्टि से मनुष्य-जीवन निकृष्ट और अन्य प्राणियों की जीवन अधिक उत्कृष्ट दिखाई देगा।

अब आपके मन में यह विचार उत्पन्न होगा कि - फिर मनुष्य-जीवन को श्रेष्ठ क्यों माना जाय? इसका समाधान विद्वानों ने जो किया है उस आधार पर यही कहा जा सकता है कि- मनुष्य-जीवन श्रेष्ठ इसीलिये माना गया है कि इस जन्म को प्राप्त करने के बाद आत्मा श्रेष्ठकर्मों की पूँजी एकत्रित करते हुए, प्रथम मनुष्यत्त्व, पश्चात् देवत्त्व, ऋषित्त्व और मुमुक्षत्त्व को प्राप्त कर सकता है; जो इसी जीवन में सम्भव है, अन्य किसी जीवन में नहीं।

अब आपके मन में यह प्रश्न अवश्य उत्पन्न होगा कि - सर्वप्रथम मनुष्यत्त्व कैसे प्राप्त किया जाय ? उसका उत्तर विद्वानों ने यही दिया है कि - 'जो मननशील होकर स्वात्मवत्, शास्त्रवत्, महापुरुषों के कार्यवत् श्रेष्ठकार्य करेगा, वही मनुष्यत्त्व को प्राप्त कर सकता है।' अभिप्राय यह है कि मनुष्य की स्वाभाविक और नैमित्तिक बुद्धि, दोनों का योगदान उसके प्रत्येक कार्य का प्रारम्भ करने से पूर्ण प्रथम क्या..क्यों.. कैसे.. के रूप में किया जाय और निष्कर्ष के रूप में वेदविहित तथा स्वात्मवत् जो उत्तर आये, उस सद्ज्ञान व सद्भाव को श्रद्धा से अङ्गीकार कर, अपने जीवन का उच्च लक्ष्य निर्धारित कर पुरुषार्थ द्वारा निरन्तर क्रियान्वित किया जाय, वही मनुष्यत्त्व को प्राप्त कर सकता है। इस प्रक्रिया को और अधिक सहज व सरल बनाने के लिए हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने एक छोटा-सा शब्द दिया है - **"योग"**। यदि योग के व्यापकरूप को समझ लिया जाय और जिस-जिस रूप में हमें उसका प्रयोग करना चाहिए, उस-उसके प्रयोगात्मकरूप का अनुपालन किया जाय, तो निश्चित ही उस योगमार्ग द्वारा हम इस जीवन में मनुष्यत्त्व का बीज वपन कर, उसका नैरन्तर्य-पुरुषार्थ द्वारा पोषण, मनुष्यत्त्व से देवत्त्व-ऋषित्त्व की स्थिति को प्राप्त कराता हुआ मुमुक्षत्त्व तक पहुँचा देता है। पर विडम्बना यह है कि हमने प्राचीन ऋषि-मुनियों के योगात्मक-उपदेश को श्रद्धाभरी दृष्टि से न देखा और न उसको पूरी तरह से सुना। पर जब से वैदेशिक लोगों ने योग शब्द का योगा कर दिया और उन्होंने अपने कथन का माध्यम अंग्रेजीभाषा कर लिया, तब से हमें यह प्रतीत होने लगा कि - **"योगा तो जीवन के लिए परम आवश्यक है।"** पर हमने कभी गम्भीरता से यह विचार करने का प्रयास नहीं किया कि - **"योग** और **योगा** में क्या अन्तर है ?" यदि हमने इस प्रकरण पर थोड़ा-सा भी विचार किया होता तो हम योगा में अटककर नहीं रह जाते, अपितु योगमार्ग का अवलम्बन प्राप्त कर अपने जीवन का सर्वाङ्गीण विकास कर, लक्ष्य को प्राप्त करते अथवा लक्ष्य के समीप पहुँच जाते।

पर हमने ऐसा इसलिये नहीं किया कि वर्षों की गुलामी में रहते-रहते, अंग्रेजी पद्धति का अनुसरण करते-करते, हमारी मानसिक व बौद्धिक क्षमता भी गुलामी की आदी बन गयी है। यदि अमेरिका हल्दी का पेटेंट अपने नाम करा ले तो हम तब कहेंगे कि हल्दी तो भारत से अमेरिका में गई। अमेरिका वालों को हल्दी का ज्ञान ही नहीं था। हल्दी तो हमारे देश में पैदा होती है, इसलिये हल्दी पर अमेरिका अपना अधिकार नहीं जमा सकता। यदि कोई रूसी, जापानी या चीनी आँवले का पेटेंट कराने का प्रयत्न करे, तो हम यह कहेंगे कि आँवला तो हमारे देश का पौधा है। महर्षि च्यवन ने कुछ विशिष्ट द्रव्यों का आँवले के साथ प्रयोग करके च्यवनप्राश बना दिया, जो जगत्प्रसिद्ध है। फिर अन्य देश इस पर अपना स्वामित्त्व कैसे रख सकते हैं? इसी प्रकार भारतीय ऋषि-मुनि जिस योग को भारत की आत्मा मानते थे, हमने अपनी उस विरासत की उपेक्षा की, उसको अवहेलना की दृष्टि से देखा; पर जब वैदेशिक लोगों ने योग शब्द का रूपान्तरण करके उसे योगा (Yoga) बनाकर अंग्रेजीभाषा के माध्यम से हमारे सामने परोस दिया, तब हमारी आँखें खुलीं, और हमने उस योगा को अपने शारीरिक स्वार्थ के कारण अङ्गीकार कर लिया। पर उन योगा के अन्धभक्तों में कुछ पूर्वजन्म के संस्कारवश ऐसे भी भक्त थे, जिनकी बुद्धि कुछ जाग्रत थी, तो उन्होंने अपनी दूरदृष्टिता का उपयोग कर यह कहा कि - जिसको अंग्रेजीभाषा में **योगा** कहा जाता है, उस योगा का उद्भव हमारे देश की योगपद्धति से ही हुआ है।

अब आपके मन में यह विचार आना स्वाभाविक है कि - जब प्राचीनकाल में योगपद्धति मौजूद थी तो उसका योगा रूप क्यों कर दिया गया ? उसके सम्बन्ध में हम इतना ही निवेदन करेंगे कि - भारतीय संस्कृति धर्म, यज्ञ, योग और अध्यात्म से जुड़ी संस्कृति है; जबकि वैदेशिक संस्कृति 'खाओ-पीओ, मौज़ करो' के धरातल पर आधारित है। हमारी संस्कृति का मार्ग अभ्युदय ने निःश्रेयस् तक जाता है, जबकि वैदेशिक अपसंस्कृति का मार्ग योगा पर ही अटककर रह जाता है। याद रखो - **"भोगे रोगभयम्"** जहाँ जिस-जिस मात्रा में भोग प्रबल होगा, वहाँ उतनी ही प्रबलता के साथ रोग भी उत्पन्न होंगे। जबकि भारतीय संस्कृति का योगमार्ग सांसारिक पदार्थों के उपयोग द्वारा अभ्युदय की उपेक्षा नहीं करता, अपितु संयमित जीवन द्वारा भोगों पर नियन्त्रण रखकर उस निःश्रेयस्-मार्ग का पथिक बनता है, जहाँ निः+श्रेयस् = निश्चित रूप से कल्याण ही कल्याण के मार्ग पर बढ़ता हुआ मानसिक-बौद्धिक तथा आत्मिक सुख को क्रमशः प्राप्त करता हुआ मुमुक्षत्त्व की स्थिति में परमानन्द को प्राप्त कराता है। इस स्थिति तक पहुँचने में आन्तरिक आत्मा योग की ही है। योग का अर्थ है- जुड़ना। पर किससे ? उत्तर है - शारीरिक-मानसिक-बौद्धिक व आत्मिक सुख द्वारा प्राप्त परमानन्द सुख से। जबकि योगा का लक्ष्य मात्र है- खाओ-पीओ और जीवन में अधिक से अधिक भोगों को भोगकर मस्ती लो। यदि मस्ती लेने में किसी प्रकार की शारीरिक क्षमता का

हरण हो रहा हो, तो थोड़ा-सा आसन प्राणायाम द्वारा उस शरीर की क्षमता को पुनः प्राप्त कर, फिर भोगों का सुख प्राप्त करो। बाद में जो भी परिणाम इस जन्म में मिले वा अगले जन्म में मिलें। क्योंकि -

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः॥

जब तक जीओ, सुख से जीओ। कर्जा करके घी पीओ। जब मरने के बाद शरीर ही नष्ट हो जायेगा तो फिर कहाँ जाना और कहाँ आना; किसका देना और किसका नहीं देना ? मरने के बाद की चिन्ता क्यों की जाय ? क्योंकि मरने के बाद क्या होता है, किसने देखा है।

बस, इसी दृष्टि का नाम योगा है। योगा में स्वस्थ रहकर भोगों को अधिक से अधिक भोगने का प्रयास किया जाता है, जबकि योग में **यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान** के सोपानों का क्रमशः अनुसरण करते हुए अन्तिम **समाधि** के सोपान पर जाकर ठहरता है। उस स्थिति में योग के मार्ग का अवलम्बन प्राप्त करनेवाले योगी की आत्मा जहाँ मनुष्यत्त्व, देवत्त्व, ऋषित्त्व और मुमुक्षत्त्व की अवस्था को प्राप्त है, वहाँ वह त्रिविधि सन्तापों से विमुक्त होकर परमानन्द के सागर में गोता लगाकर तृप्ति की अनुभूति करता है; बस यही योग और योगा में अन्तर है।

अतः हम सब भारतीयों को चाहिए कि योगा के मार्ग को छोड़, मात्र योगमार्ग का अनुसरण करें, तभी हम और आप मनुष्य-जीवन का सर्वाङ्गीण विकास करने में सक्षम होंगे। ❑

गुरुकुलीय शिक्षा का प्रभाव

आचार्य श्याम

कहते हैं कि एक राजा ने अपने पुत्र को विद्याध्ययन के लिए गुरुकुल में भेज दिया। उस राजपुत्र ने गुरुकुल में रहकर 12 वर्ष तक विद्याध्ययन किया। जब राजा को यह ज्ञात हुआ कि मेरे पुत्र की शिक्षा पूर्ण हो चुकी है, तो वह अपने पुत्र को लेने के लिए स्वयं ही गुरुकुल पहुँचा और आचार्य जी से भेंटकर निवेदन किया - 'गुरुदेव ! मेरे पुत्र की विद्या आपकी कृपा से पूर्ण हो चुकी है और मैं उसे अपने घर ले जाना चाहता हूं। आप उसे मेरे साथ भेज दें।' आचार्य ने कहा - 'राजन ! ठीक है, आपके पुत्र ने मेरे समीप रहकर 12 वर्ष तक विद्याध्ययन किया है, पर अभी उसका थोड़ा-सा पाठ पढ़ना शेष है। आप अतिथिशाला में विश्राम करें। जब मैं उसे पाठ दूँ, तब आप उसे अपने साथ ले जायें।' ऐसा कहकर आचार्य ने राजा का आतिथ्य कर, विश्रामार्थ राजा को अतिथिशाला में भेज दिया।

उसके बाद आचार्य ने राजपुत्र को बुलाया और प्रतिदिन की भाँति सेवाकार्य बतलाते हुए कहा - 'पुत्र ! आज आप अभी जाकर अतिथिशाला स्वच्छ कर दो।' राजपुत्र ने आदेश का पालन करते हुए झाड़ू हाथ में ली और अतिथिशाला में पहुँच गया। वहाँ उसने देखा कि उसके पिता विश्राम कर रहे हैं। उसने पिता को प्रणामकर, निवेदन किया - 'पिताश्री ! आप थोड़ी देर के लिए बाहर बैठ जायें, मैं यहाँ की सफाई कर दूँ। राजा ने कहा - 'बेटा ! यह कार्य आपका नहीं है, इसे यहाँ का सेवक कर देगा।' पुत्र ने कहा - 'पिता ! गुरु के आदेश की मैं अवज्ञा नहीं कर सकता।' इतना कहकर राजपुत्र ने अतिथिशाला को स्वच्छ किया और गुरु के पास जाकर कहा -' गुरुदेव ! मैंने अतिथिशाला स्वच्छ कर दी है।' गुरुदेव ने कहा - 'वत्स ! बहुत अच्छा, आपके पिता आपको बुलाने के लिए आये हैं, अब आप उनके साथ घर जा सकते हैं।' राजा को आश्चर्य हुआ और उसने पूछ लिया - 'गुरुदेव ! अभी तो आप कह रहे थे कि इसका एक पाठ शेष है, पर अब आप कह रहे हैं कि इसकी विद्या पूर्ण हो गयी। यह कैसे ?' आचार्य ने कहा - 'राजन् ! मैं इसकी परीक्षा ले रहा था कि कहीं इसमें अभिमान तो नहीं है। यदि यह झाड़ू लगाने में कुछ आनाकानी करता तो मैं समझता कि इसने मेरी अवज्ञा की है। पर जब इसने निःसंकोच निरभिमान होकर मेरी आज्ञा का पालन किया, तब मैंने यह समझ लिया कि अब इसकी विद्या पूर्ण हुई है, क्योंकि यदि इसमें किञ्चित् भी अभिमान होता तो यह कार्य न करता।' यह देख राजा, आचार्य के चरणों में गिर पड़ा और बोला - जिस राज्य में ऐसे आचार्य हों, उस राज्य की सन्तान अच्छी क्यों न होगी ? ❑

गोस्वामी तुलसीदास का व्यक्तित्त्व एवं कृतित्त्व

होतीलाल शास्त्री
हरिगढ़, (उत्तर प्रदेश)

इस भारत धरा पर कौन ऐसा मनुष्य होगा जो गोस्वामी तुलसीदास जी के व्यक्तित्त्व व कृतित्त्व से परिचित न हो ? गोस्वामी जी ने अवधीभाषा में **श्रीरामचरितमानस** जैसा महाकाव्य लिखकर जिस प्रतिभा व कल्पना शक्ति का विशिष्ट परिचय दिया है, वह अद्‌भुत एवं सराहनीय है। आज अनेकों कथाकार उसका आश्रय लेकर दिग्‌दिगन्त में श्रीराम चरित्र के पावन चरित्र का गुणगान कर रहे हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी का जन्म बाराँ (उत्तरप्रदेश) के राजापुर ग्राम में सम्वत् 1554 श्रावण शुक्ल सप्तमी को आत्माराम दुबे एवं हुलसी के परिवार में हुआ। बचपन में इनका नाम रामबोला रखा गया। रामबोला के जन्म लेने के मात्र 10 दिन बाद इनकी माता हुलसी का देहावसान हो गया। तब इनका पालन-पोषण चुनिया नाम की सेविका ने किया। पर दुर्योग ऐसा रहा कि जब बालक रामबोला की उम्र मात्र साढ़े पाँच वर्ष की थी, कि चुनिया भी इस संसार से प्रयाण कर गई। इसी मध्य उस क्षेत्र में सन्त नरहर्यानन्दजी का आगमन हुआ। उन्होंने बालक की प्रतिभा तथा उसकी पारिवारिक परिस्थिति देख, परिजनों की सहमति से वे इस रामबोला अनाथ बालक को अपने साथ ले गये। सन्त नरहर्यानन्द जी ने इनका विधिवत् यज्ञोपवीत व वेदारम्भ संस्कार कर, इनका नाम तुलसीराम रख दिया और इनकी विधिवत् शिक्षा प्रारम्भ की। तुलसीराम का गुरु-सानिध्य में अभी अध्ययन काल चल ही रहा था कि दुर्योग से इसी मध्य इनके पिता श्री आत्माराम दुबे का भी देहावसान हो गया। लगभग 15 वर्ष तक गुरुचरणों में बैठकर संस्कृत विद्या के अध्ययन के बाद ये पुनः अपने ग्राम आ गये। यहाँ परिजनों के सहयोग से 29 वर्ष की अवस्था में इनका विवाह राजापुर ग्राम से कुछ दूरी पर यमुनापार स्थित एक ग्राम के प्रतिष्ठित ब्राह्मण श्री दीनानाथ पाठक की सुयोग्य पुत्री रत्नावली से हो गया। तुलसीराम अपनी पत्नी रत्नावली से विशेष प्रेम करते थे। इसी मध्य एक घटना और घट गयी कि - रत्नावली अपने भाई के निमन्त्रण पर मायके गयी हुई थी, तुलसीराम उस वियोग को न सहन कर सके और अगले ही दिन रात्रि के अंधेरे में अपनी ससुराल पहुँच गये। जब रत्नावली ने आकस्मिक रूप से अपने पति को वहाँ देखा और आने का कारण जाना, तो वह पति के अतिप्रेम को देखकर तुलसीराम से कह बैठी -

लाज न आवत आपको, दौरे आयउ साथ।
धिक्-धिक् ऐसे प्रेम को, कहा कहौ मैं नाथ॥
अस्थि-चर्ममय देह मम, तामें ऐसी प्रीति।
तैसी हो भगवान् में, होति न तो भवभीति॥

पत्नी रत्नावली के शब्दों की चुभन कुछ हृदय में ऐसी घर कर गयी कि उसने जीवन की दिशा को ही पलट दिया। अब उनके प्रेम की धारा ही पूरी तरह बदल गयी। उनके सुसंस्कार जाग्रत हो गये और वे गृहस्थ-धर्म से विरक्त होकर प्रयाग आ गये। कुछ समय बाद वहाँ से काशी तथा चित्रकूट पहुँचकर असीघाट पर रहने लगे। वहाँ गुरुमुख से श्रीरामकथा का श्रवण करने का अवसर मिला। जो कथा कभी अध्ययनकाल में सुनी थी, इस बार कहीं उससे अधिक उस कथा का आस्वादन लिया। अब वे तुलसीराम की जगह **तुलसीदास** बन गये थे। मन और इन्द्रियों की साधना ने उन्हें **गो-स्वामी** भी बना दिया।

एक दिन गोस्वामी तुलसीदास जी के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि जिस श्रीराम का गौरवमय चरित्र लाखों वर्षों के बाद आज भी जीवन्त है, उस कथा को और अधिक गौरवमय किस प्रकार बनाया जाय ? उन दिनों भारतवर्ष में मुग़ल-साम्राज्य का वर्चस्व था। भारतीय संस्कृति को पददलित करने के तरह-तरह के प्रयास किये जा रहे थे। ऐसे विपरीत काल में भारतीय जनमानस में धार्मिक संस्कारों का वपन करने तथा संस्कृति को बचाने के सुविचार ने मन में श्रीरामचरित्र को सामान्य भाषा में लिखने का संकल्प किया। परिणाम वे चित्रकूट छोड़कर श्रीराम की जन्मभूमि अयोध्या चले गये और वहाँ विद्वज्जनों का सानिध्य कर श्रीरामचरित्र को अवधी भाषा में लिखने का संकल्प कर, चैत्र शुक्ल सम्वत् 1631, अर्थात् श्रीराम जी के जन्मदिन के दिन इस पुनीत कार्य का शुभारम्भ कर दिया। 2 वर्ष 7 महीने और 26 दिन तक लेखनकार्य की कठिन साधना के बाद रामचरितमानस नामक महाकाव्य पूर्ण हुआ, जिसमें अवधी भाषा के साथ-साथ संस्कृत काव्य प्रतिभा का भी दर्शन होता है।

उसके बाद गोस्वामी जी पुनः काशी आ गये और वहाँ रहकर श्रीरामकथा का भक्तों के बीच कथा-वाचन करने लगे। प्रारम्भ में तो श्रोताओं ने कुछ अरुचि-सी प्रकट की, पर धीरे-धीरे उनके ग्रन्थ व वाचन की ऐसी लोकप्रियता बढ़ी कि लोग अवधीभाषा में लिखी रामचरित मानस का आस्वादन लेने लगे। अब उनकी लोकप्रियता शिखर को स्पर्श करने लगी। गोस्वामी तुलसीदास जी की लेखन-साधना मात्र इस ग्रन्थ तक ही सीमित नहीं रही, अपितु जीवन पर्यन्त इस साधना को करते हुए श्रावण कृष्णा तृतीया सम्वत् 1680 को नश्वर शरीर त्यागकर, वे अमर हो गये।

आज हिन्दी-साहित्य में उनके अनेकों ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, जो उनकी विद्वत्ता, काव्य-प्रतिभा एवं लेखन साधना का प्रतीक हैं। गोस्वामी जी ने अपने जीवनकाल में जिन ग्रन्थों की रचना की, उन ग्रन्थों की तालिका यदि आज देखी जाय, तो विद्वत्वर्ग में प्रायः अनेकों मतभेद दिखाई देते हैं। उन विद्वानों का एक वर्ग उनकी 32-33 रचनायें बतलाता है तो दूसरा वर्ग 25 रचनायें सिद्ध करता है। इस भेदात्मक स्थिति के उत्पन्न होने का प्रथम कारण है - इतिहास की अनभिज्ञता। क्योंकि भारत धरा पर तुलसी नाम के एक और

व्यक्ति हुए, जिनका जन्म कायस्थ परिवार में हुआ और उन्होंने भी अपने जीवनकाल में साहित्य रचना द्वारा हिन्दी-साहित्य को समृद्ध बनाने में अपना योगदान दिया। नाम-साम्य के कारण लोगों ने दोनों विद्वानों की रचनाओं को एक करके ग्रन्थों की संख्या पृथक्-पृथक् मान ली। जबकि गोस्वामी तुलसीदास जी का जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ और दूसरे तुलसीदास जी का जन्म कायस्थ परिवार में हुआ। पर दोनों विद्वानों की रचनाओं को एक मान लेना, यह उचित न्याय नहीं कहा जा सकता।

उसकी प्रथम कसौटी यही है कि लेखक की भाषा शैली, लालित्य और उसकी कल्पना शक्ति का आंकलन किया जाय, उसके बाद निर्णय किया जाय कि कौन-सा ग्रन्थ किस रचनाकार का हो सकता है।

इस कसौटी पर जब आप सूक्ष्मदृष्टि से भाषा प्राञ्जल्य को आधार बनाकर नीर-क्षीर विवेक न्याय से ग्रन्थों का आंकलन करेंगे तो प्रायः गोस्वामी तुलसीदास जी के 12 ग्रन्थों के प्रति सहमति विद्वानों की विशेष रूप से बनती है। पर कुछ विद्वानों ने 12 ग्रन्थों के प्रति असहमति प्रकट करते हुए अन्य ग्रन्थों का रचनाकार भी गोस्वामी जी को बनाने का प्रयास किया है। जैसाकि मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी-नवरत्न में गोस्वामी जी को 25 ग्रन्थों का रचनाकार सिद्ध किया तो महात्मा रघुवर जी ने तुलसी-चरित तथा एक अन्य विद्वान् लेखक ने 31 ग्रन्थों का कर्त्ता गोस्वामी जी को माना है। श्री शिवसिंह सरोज जी ने 22 ग्रन्थों का गोस्वामी जी को रचनाकार माना है तो पं0 सुधाकर द्विवेदी, अंग्रेज विद्वान् स्मिथ ने इससे कुछ भिन्न संख्यायें गोस्वामी जी के ग्रन्थों की सिद्ध करने का प्रयास किया है। परन्तु अंग्रेज विद्वान् ग्रियर्सन ने 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स' में तथा मिर्जापुर निवासी पं0 रामगुलाम द्विवेदी जी ने गोस्वामी जी को 12 ग्रन्थों का रचनाकार लिखा है, इस पर सभी विद्वान् प्रायः सहमत हैं। इस सम्बन्ध में पं0 द्विवेदी जी की स्वयं की एक काव्य रचना है, जो इस प्रकार है -

रामलला नहछू विराग सन्दीपनि हूँ,
बरवै बनाय विरमाई मति सांई की।
पारवती जानकी के मङ्गल ललित गाय,
रम्य राम आज्ञा रची कामधेनु नांईं की।
दोहा औ कवित्त गीतबद्ध कृष्णकथा कही,
रामायन विनय महँ बात सब ठॉईं की।
जग में सेहानी जगदीश हूँ के मन मानी,
सन्त सुखदानी बानी तुलसी गोसाईं की॥

इस आधार पर अधिकांश विद्वानों ने गोस्वामी जी के 12 ग्रन्थों को प्रामाणिक ग्रन्थों की सूची में स्थान दिया है। उन ग्रन्थों में छः ग्रन्थ अवधीभाषा में तथा छः ग्रन्थ व्रजभाषा में हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय निम्न है -

* अवधीभाषा में रचित ग्रन्थ *

(1) रामचरित मानस - यह ग्रन्थ प्रसिद्ध महाकाव्यों की श्रेणी में गिना जाता है। इसमें श्रीराम कथा का सम्पूर्ण इतिवृत्त है। इस ग्रन्थ को 291580 अक्षर; 116733 शब्द तथा 10902 पदों द्वारा सात-काण्ड में लिखा गया है। इन सातों काण्डों में 9388 चौपाई, 1172 दोहे, 87

सोरठे तथा तोमर, त्रोटक, हरिगीतिका, चौपैया, त्रिभङ्गी जैसे कुल 208 छन्दों का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त संस्कृत छन्दों में अनुष्टुप्, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका, वंशस्थ, उपजाति, प्रमाणिका, मालिनी, स्रग्धरा, रथोद्धता, भुजङ्गप्रयात तथा त्रोटक छन्द में रचित 47 श्लोकों का समावेश है।

(2) पार्वती मङ्गल – इसमें शिव-पार्वती विवाह, प्रेम, साधना और तप का सुन्दर वर्णन 164 हरिगीतिका छन्द में लिखा गया है।

(3) जानकी मङ्गल – इसमें श्रीराम-सीता स्वयंवर, धनुषभङ्ग तथा विवाह का मनोरम वर्णन है। यह ग्रन्थ 216 छन्दों में आबद्ध है।

(4) रामलला नहछु – इसमें चारों भाईयों के यज्ञोपवीत के समय का यह नरछू है। यह ग्रन्थ 20 सोहर छन्दों में आबद्ध है।

(5) बरवै रामायण – इसमें लोकव्यवहार, प्रेम तथा विवाह का वर्णन है। यह ग्रन्थ 69 बरवा छन्द में 7 काण्डों में लिखा गया है।

(6) रामाज्ञा प्रश्नावली – यह ग्रन्थ 7 सर्गों में आबद्ध है। इसके प्रत्येक सर्ग में 49-49 दोहे, 7 दोहों का एक सप्तक तथा कुल 3431 दोहे हैं।

* **व्रजभाषा में रचित ग्रन्थ** *

(1) गीतावली – इसमें रामकथा राग-रागनियों में आबद्ध गीतों को 7 काण्ड तथा 331 पदों में लिखा गया है।

(2) दोहावली – यह 573 दोहा एवं सोरठों का संग्रह है। इसके अनेकों दोहे रामचरित मानस में भी विद्यमान हैं। इस ग्रन्थ में धर्मनीति, समाजनीति, वेदान्त तथा राजनीति का सुन्दर वर्णन है।

(3) विनय-पत्रिका – यह राग-रागनियों में लिखा ईश-प्रार्थना, आदर्शजीवन तथा भक्ति विषयक प्रधान ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ 279 पदों का संग्रह है।

(4) कृष्ण-गीतावली – इसमें श्रीकृष्ण के जीवन की कथा तथा गीता के कुछ उपदेशों का 61 पदों में वर्णन है।

(5) कवितावली – यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य की प्रबन्ध रचना शैली में लिखा ग्रन्थ है। इसमें 335 छन्दों का संग्रह है।

(6) वैराग्य संदीपनि – इस ग्रन्थ में दोहे और चौपाई जैसे छन्द का विशेष प्रयोग किया गया है। इसमें 33 छन्द सन्त-स्वभाव के रूप में, 9 छन्द सन्त-महिमा के रूप में तथा 20 छन्द शान्ति विषयक हैं। इसमें कुल 62 छन्दों का संग्रह है।

गोस्वामी तुलसीदास जी के व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व को देखने के बाद हिन्दी साहित्य के विद्वान् श्री अमृतलालम नागर ने गोस्वामीजी को 'मानस का हंस', नाभादास ने 'कलिकाल का बाल्मीकि', स्मिथ ने 'मुगलकाल का सबसे महान् व्यक्ति' तथा ग्रियर्सन ने 'महात्मा बुद्ध के बाद का सबसे बड़ा लोकनायक' माना है। पं0 रामचन्द्र शुक्ल ने तो यहाँ तक लिखा है –

'तुलसीदास जी उत्तर-भारत की समग्र जनता के हृदय-मन्दिर में पूर्ण प्रेम-प्रतिष्ठा के साथ विराज रहे हैं। ... इनकी वाणी की पहुँच मनुष्य के सारे भावों-व्यवहारों तक है।' ❐

यज्ञ - एक प्रभावकारी चिकित्सा

परमजीत कौर
मन्त्रिणी - धर्म संवर्द्धिनी सभा, दिल्ली

अन्तःदृष्टिपात्-विज्ञानवेत्ता-ऋषियों ने हजारों वर्ष पूर्व ही सब संसार के रोगों के समूल नाश के लिये यज्ञ को विज्ञान घोषित किया। पर कुछ भारतीय, पाश्चात्य विद्वानों का अन्धानुकरण करना अपना परम सौभाग्य समझते हैं; और उनकी निराधार मान्यताओं की पुष्टि में गौरव अनुभव करने का प्रयास करते है। हमारी दिनचर्या में प्रातः यज्ञ करने को दैनिक-कर्त्तव्य कहा जाता है, उसकी उपयोगिता हमारे जीवन को स्वस्थ, पुष्ट तथा सुखमय बनाने में भोजन एवं औषधि से भी अधिक उपयोगी है। वर्तमान समय में वायु प्रदूषण में उलझे हुए विश्व की रक्षा करने का यह निरापद अमोघ उपाय है। अथर्ववेद में अनेक प्रकार के रोगकृमियों को यज्ञ द्वारा विनष्ट करने का वर्णन आता है। यथा -

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत्।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः॥

(अथर्व01/8/1)

अग्नि में डाली हुई यह हवि रोगकृमियों को उसी प्रकार दूर भगा देती है, जिस प्रकार नदी पानी के झागों को। जो रोगकृमि छिपे बैठे हैं, वे यज्ञ में औषधियों के जलाने से नष्ट हो जाते हैं।

वनस्पतियों को यज्ञाग्नि में जलाने पर वे पदार्थ सूक्ष्मगैसरूप में बदलकर वाष्पीयदोष दूर करते हैं। प्रतिदिन हम देखते हैं कि लालमिर्च व हींग का छौंक हमारे दाल आदि को सुवासित कर देता है। एक मिर्च अग्नि में डाल दें तो, वह हजारों मनुष्यों पर दुष्प्रभाव डालती है। यह सब वायु प्रदूषित होने का परिणाम है। भोपाल गैस काण्ड, बंगाल का फ्लू या अन्य देश में होनेवाली घटनायें इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। पर जिन्होंने यज्ञकार्य किया वे इन दुष्प्रभावों से बचने में समर्थ रहे; क्योंकि सुगन्ध, मिष्ट, पुष्ट तथा रोगनाशक सामग्री, गुग्गुल, शुद्धघृत जब यज्ञ द्वारा वायु में मिलता है तो वह अनेकों रोगों को विनष्ट कर देता है। वर्षाऋतु में होनेवाले जुक़ाम, जोड़ों का दर्द, दाद-खुजली आदि अनेकों रोगों को यज्ञ द्वारा समाप्त किया जा सकता है।

जब 1907 में भारत में प्लेग फैला, तब मद्रास के सिनेटरी कमिश्नर डा0 कर्नल किंग ने अपने विद्यार्थियों को कॉलेज में पढ़ाते समय आदेश दिया था कि - 'यदि तुम घी, चावल, केसर वा सुगन्धित पदार्थों को अग्नि में जलाओगे तो तुम सुरक्षित रहोगे।' इसी प्रकार जब गुजरात, दिल्ली जैसे राज्यों में प्लेग फैला, तो उस समय औषधियुक्त सामग्री के पैकेट लोगों में इसीलिये बाँटे गये थे कि वे उसे जलाकर वायु को शुद्ध करें, जिससे प्लेग शीघ्र समाप्त हो जाये।

रूस के वैज्ञानिक शिरोविच ने एक बार कहा था कि - 'जिस स्थान पर गाय के गोबर का

लेपन व शुद्धघृत का धुआं फैलता है, तो वह स्थान सक्रिय विकिरण से सुरक्षित हो जाता है।'

एक बार जर्मनी की प्रयोगशाला में अनुसंधान हुआ कि रोग-विरोधी दृष्टि से वायु का शुद्धिकरण और उर्वरकता की दृष्टि से यज्ञ वायुमण्डलीय और पर्यावरणीय स्वास्थ्य दोनों को समृद्ध एवं पुष्ट करता है। यहाँ तक कि यज्ञ की राख भी मनुष्यों, पशुओं एवं वृक्षों पर लाभकारी सिद्ध हुई है।

फ्रांस के विज्ञानवेत्ता प्रो0 टिगवर्ट कहते हैं कि - 'जलती हुई शक्कर के धुएं में वायु शुद्ध करने की बड़ी शक्ति होती है। इससे हैजा, तपेदिक, चेचक आदि रोग शीघ्र दूर हो जाते हैं।'

डा0 टाटलिट ने मुनक्का, किशमिश आदि सूखे मेवों को जलाकर देखा तो उनके सामने आश्चर्यजनक परिणाम यह आये कि - सूखे मेवों के धुएं से टाइफाइड ज्वर के कीटाणु मात्र आधे घण्टे में तथा अन्य कीटाणु मात्र दो घण्टे में भी समाप्त हो गये।

चेचक टीके के आविष्कर्त्ता फ्रांस के डा0 हेफकिन साहब कहते हैं कि - 'अग्नि में घी जलाने से अनेकों रोगों के कृमि नष्ट हो जाते हैं।'

कविराज पं0 सीताराम शास्त्री जी अपनी पुस्तक में लिखते हैं - 'मैंने कई वर्षों तक चिकित्सा करने पर अनुभव किया कि जो महारोग औषधि खाने से ठीक नहीं होते, वे वेदोक्त यज्ञ-चिकित्सा से शीघ्र दूर होते देखे हैं।'

बरेली निवासी डा0 कुन्दनलाल जी अग्निहोत्री लिखते हैं - 'मैं पहले 25 वर्ष तक खोज और परीक्षण करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि क्षयरोग जैसी महामारियों की चिकित्सा यज्ञ द्वारा शीघ्र की जा सकती है। मेरे समक्ष अनेकों ऐसे रोगी थे, जिनकी कैविटी काफी गहरी थी, जिनको वर्षों तक पहाड़ पर रहने के बाद भी अन्त में डाक्टरों ने असाध्य बता दिया था, उन्होंने अन्त में यज्ञ-चिकित्सा द्वारा स्वस्थ व निरोग होकर अपनी जीवनयात्रा को सामान्य रूप से चलाया है।'

अथर्ववेद में भी आरोग्य और दीर्घायु होने के लिए सन्देश देते हुए कहा है -

मुञ्चामि॑ त्वा ह॒विषा॒ जीव॑नाय॒ कम॑ज्ञातय॒क्ष्मादु॒त रा॑जय॒क्ष्मात्। प्राहि॑र्ज॒ग्राह॒ यद्ये॒तदे॑नं॒ तस्या॑ इन्द्राग्नी॒ प्र मु॑मुक्तमेनम्॥

(अथर्व0 3/11/1) (ऋग्0 10/161/1)

अर्थात् - हे मनुष्यो ! मैं तुझ गृहपति को सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए सुगन्धि-पुष्टिकारक द्रव्यों का यज्ञाग्नि में आहुत करने का आदेश देता हूँ, जिससे अज्ञातरूप वाले तथा संगदोष से उत्पन्न होने वाले, तपैदिक जैसे भयङ्कर रोग से बचाये रक्खूं। तू यज्ञ द्वारा इन रोगों को पूर्ण नष्ट कर। तुझे शुद्ध प्राणवायु, सूर्य का प्रकाश-आतप-विद्युत और अग्नि होमाग्नि द्वारा रोगों से सदैव मुक्त करें।

इसका अभिप्राय यह है कि प्राभातिक वायु, उषःकालिक सूर्य-प्रभा और होमाग्नि के द्वारा शुद्धवायु से मनुष्य अपने जीवन को रोगमुक्त करने में समर्थ हो सकता है। इसलिये उसका कर्त्तव्य है कि यदि वह स्वस्थ और दीर्घायु जीवन व्यतीत करना चाहता है तो प्रातःजागरण, सैर-व्यायाम व यज्ञ द्वारा अपने को स्वस्थ रखे। ❑